'नृप-वचन-राज-रस-भंग' प्रकरण

सकल कहहिं कब होइहि काली। बिघन मनावहिं देव कुचाली॥ ६॥
तिन्हहिं सुहाइ न अवध बधावा। चोरहि चंदिनि राति न भावा॥ ७॥
सारद बोलि बिनय सुर करहीं। बारहिं बार पाँय लै परहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—**काली**=कल सबेरा। **बिघन** (विघ्न)=बाधा, रुकावट, खलल। **कुचाली**=बुरे चाल वा स्वभाववाले, दुष्ट, बुरे आचरणवाले। **चंदिनि**=चाँदनी, उजेली।

अर्थ—सभी (परस्पर) कह रहे हैं कि (वह) कल कब होगा! (और उधर) कुचाली देवता विघ्न मनाते हैं॥ ६॥ उन्हें अयोध्याजीकी बधाइयाँ (उत्सव) अच्छी नहीं लगतीं। जैसे चोरको चाँदनी रात नहीं भाती॥ ७॥ सरस्वतीको बुलाकर (अर्थात् उनका आवाहन करके) देवता विनय कर रहे हैं, बारम्बार उनके पैरों पड़ते हैं॥ ८॥

नोट—१ ***'कालि लगन भलि केतिक बारा'*** और ***'कब होइहि काली'*** से दिखा रहे हैं कि पुरवासी रामराज्याभिषेकके लिये कितने उत्सुक हैं। इतना विलम्ब भी उनको असह्य हो रहा है मानो चाहते हैं कि अभी सूर्योदय हो जाय। यथा—'**रामं कदा वा द्रक्ष्यामः प्रभातं वा कदा भवेत्। इत्युत्सुकधियः सर्वे॥**' (अ० रा० २। ३। ४१) '**तदा ह्ययोध्यानिलयः सस्त्रीबालाकुलो जनः। रामाभिषेकमाकाङ्क्षन्नाकाङ्क्षन्नुदयं रवेः।**' (वाल्मी० २। ५। १९)

नोट २—***'बिघन मनावहिं देव कुचाली'*** इति। (क) अर्थात् सब तो मना रहे हैं कि सबेरा हो और देवता मनाते हैं कि ***'कल'*** न आने पावे, आज रातहीमें विघ्न हो जाय, यही कुचाल है। स्वार्थसिद्धिके निमित्त पराया काज नष्ट करना चाहते हैं। ऐसे मङ्गलकार्यमें अमङ्गल चाहते हैं; अतः ***'कुचाली'*** कहा। और जो बिना कारण ही पराये कार्यकी हानि करें उन्हें 'अहि-मूषक' की उपमा दी जाती है। (ख) ***'बिघन मनावहिं'*** से सूचित किया कि देवताओंके अपने किये विघ्न न हो सका, इसीसे वे सरस्वतीको मनाते हैं। (पु० रा० कु०) (ग) ***'न सोहाइ अवध बधावा'—'अवध बधावा',*** यथा—***'सुनत राम अभिषेक सुहावा। बाज गहागह अवध बधावा॥'*** जो पूर्व कह आये हैं, यह उनको अच्छा नहीं लगता।

टिप्पणी—१ ***'चोरहि चंदिनि राति न भावा।'*** इति। यहाँ चन्द्रमा, चोर और चाँदनी क्या हैं? श्रीरामजीको चन्द्रमा कह आये हैं, यथा—***'सनमाने प्रिय बचन कहि रघुकुल कैरव चंद।'*** (१०) वे चन्द्रमा हैं, इसीसे (उनके अभिषेकके सम्बन्धकी) बधाईको चाँदनी रात्रिसे उपमित किया। राज्याभिषेक (उत्सव) चाँदनी रात है जो सबको भाती है। देवता चोर हैं, वे चोरीसे अपना काम करना चाहते हैं, चोरको चाँदनी रात नहीं भाती, इनको बधावा नहीं सुहाता। [भाव यह कि चाँदनी रात सबको प्रिय लगती है पर चोरोंको नहीं, क्योंकि चाँदनीमें उनके पहचाने और पकड़े तथा बन्दीगृहमें भेजे जानेका भय रहता है; वैसे ही यह उत्सव सबको भाता है, पर देवताओंको नहीं; क्योंकि राज्याभिषेक हो जानेसे श्रीरामचन्द्रजी राज्यकार्यमें फँसे रह जायँगे, रावणवध न होगा। यथा—'**यदि राज्याभिसंसक्तो रावणं न हनिष्यसि। प्रतिज्ञा ते कृता राम भूभारहरणाय वै।**' (अ० रा० २। १। ३४) (यह नारदजीने ब्रह्माका संदेशा कहा है कि यदि राज्याभिषेक आप करा लेंगे तो राज्यमें आसक्त होकर आप रावणको न मारेंगे, तब भूभारहरणवाली आपकी प्रतिज्ञाका क्या होगा?) और रावणवध न होनेसे देवता नित्य साँसति सहेंगे, बंदीगृहमें पड़े सड़ेंगे, उसके हाथोंसे छुटकारा नहीं मिलेगा। यथा—***'दिगपालन्ह मैं नीर भरावा।'*** (६। २८) ***'कंपहिं लोकप जाकी त्रासा।'*** (५। ३७) ***'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥'*** (५। २०) ***'सभय दिसिप नित नावहिं माथा।'*** (६। १०३) ***'रावन नाम जगत जस जाना। लोकप जाके बंदीखाना॥'*** (६। ८९) रावणवध शीघ्र होनेमें ही उनका भला है। यथा—***'यह दुष्ट मारेउ नाथ। भए देव सकल सनाथ॥'*** (६। ११२) (इन्द्रने रावणवध होनेपर यह कहा है।)]

अलङ्कार—यहाँ पूर्वार्द्ध वाक्य उपमेय रूप और उत्तरार्द्ध उपमान रूप है। दोनोंका एक धर्म है पर जो *'सोहात न'* और *'न भावा'* इन समानार्थवाची शब्दोंद्वारा अलग-अलग कहा गया। अतः यहाँ 'प्रतिवस्तूपमा' अलङ्कार है। पुनः, बिना वाचकके दोनों वाक्योंमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव झलक रहा है इससे 'दृष्टान्त' भी है।

नोट—३ *'सारद बोलि बिनय सुर करहीं।'''* इति। (क) जब अपना कोई उपाय न चलता देखा तब सरस्वतीको बुला भेजा। *'सारद बोलि'* अर्थात् उसका आवाहन किया, वह आ गयी। 'विनय' करते हैं उसको प्रसन्न करनेके लिये। *'पाँय लै परहीं'*=पाँव पड़ना अर्थात् पैरोंपर गिरना, साष्टाङ्ग दण्डवत् करना। यह मुहावरा है अत्यन्त दीनतासे विनय करनेका। *'पाँय लै परहीं'*=पैर पकड़कर पड़ जाते हैं। (ख) *'लै'* का अर्थ 'तक, पर्यन्त' भी होता है। अर्थात् पैरोंपर सिर रख देते हैं इसमें अत्यन्त विनीत होनेका भाव है। पं० रामकुमारजी कहते हैं कि गहोरा देश (बुन्देलखण्ड) में 'पाँव पड़ने' को 'पाँव लै पड़ना' कहते हैं। देवताओंने प्रथम तो विनय की जिसमें देवी सरस्वती प्रसन्न हो जाय; पर जब उन्होंने देखा कि इतनेसे काम नहीं चलेगा तब वे उसे संकोचमें डालकर अपना कार्य साधना चाहते हैं। इसीसे वे बारम्बार पैरों पड़ते हैं। इसीसे वे सफल होंगे, वह संकोचमें पड़ जायगी। यथा—*'बार बार गहि चरन सकोची।'* (१२। ५)—यह स्वार्थसाधकोंकी रीति दिखायी। (खर्रा) (ग) पुराणोंमें सरस्वती ब्रह्माकी पुत्री और स्त्री दोनों कही गयी हैं और उसका वाहन हंस बताया गया है। महाभारतमें एक स्थानपर सरस्वतीको दक्ष प्रजापतिकी कन्या लिखा है। यह वाग्देवी मानी जाती हैं। विशेष बालकाण्ड मं० श्लोक १ में देखिये।

नोट ४—*'सारद बोलि……'* इस चौपाईसे दोहा १३ *'सभय रानि……'* के अन्ततक अध्यात्मरामायणके **'एतस्मिन्नन्तरे देवा देवीं वाणीमचोदयन्। गच्छ देवि भुवो लोकमयोध्यायां प्रयत्नतः॥'** (२। २। ४४) इस श्लोकका विस्तार गोसाईंजीने बड़ी खूबीसे किया है जिसका अर्थ है—इसी बीचमें देवताओंने देवी वाणीको प्रेरणा की—हे देवि! भूलोकमें जाइये विशेष करके अयोध्याजीमें।

दो०—बिपति हमार बिलोकि बड़ि मातु करिअ सोइ आजु।
रामु जाहिं बन राज तजि होइ सकल सुरकाजु॥ ११॥

शब्दार्थ—**बिपति**=विपत्ति, दुःख, दर्द, कष्ट।

अर्थ—हे माता! हमारी भारी विपत्ति देखकर आज वही कीजिये जिससे रामचन्द्रजी राज्य त्यागकर वनको चले जायँ, सब देवताओंका काम बने॥ ११॥

नोट—१ सरस्वती सङ्कोचमें पड़ी है। इस दोहेसे जनाते हैं कि वह नगरभरको इनके स्वार्थके लिये विपत्तिमें डालनेको राजी नहीं होती थी, इसीसे वे उसकी दृष्टि अपनी विपत्तिकी ओर डलवाते हुए कहते हैं कि उनको विपत्ति होगी और हम उनसे भारी विपत्ति झेल रहे हैं, राम-वनवाससे अवधवासियोंको विपत्ति पड़ेगी, पर वे अपने घर तो रहेंगे और हम तो घर-बारसे निकाले हुए फिरते हैं, यथा—*'सुरपुर नितहि परावन होई।'*(१।१८०) *'रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा॥ दिगपालन्ह के लोक सुहाए। सूने सकल दसानन पाए॥'* (१। १८२) यही बात कवितावलीसे भी सिद्ध होती है। यथा—*'नाग नर किन्नर बिरंचि हरि हर हेरि पुलक सरीर हिये हेतु हरषतु हैं।………आयसु भो लोकनि सिधारे लोकपाल सब तुलसी निहाल कै कै दिये सरषतु हैं॥'* (लं० कां० ५८) बड़ी विपत्तिके आगे छोटीका खयाल न करना चाहिये। फिर अवधवासी तो थोड़े ही हैं और हम तैंतीस करोड़ हैं, इस प्रकार भी हमारी विपत्ति बड़ी है, अधिक संख्याको सुख देनेमें थोड़ेहीको कष्ट हो तो थोड़ोंके दुःखका विचार नहीं किया जाता। यह भाव आगेके *'सकल सुर'* से निकलता है।

नोट २ (क) *'बिलोकि'*—अर्थात् तुम अपनी आँखों हमारी नित्यकी विपत्ति देख रही हो, कि *'सुरपुर नितहि परावन होई।'*(१।१८०) उनको विपत्ति होगी या नहीं इसे तो कोई जानता भी नहीं। (ख) *'मातु'*—ब्रह्माजी जगन्मात्रके पितामह हैं; क्योंकि सारी सृष्टिके रचयिता ये ही हैं। सरस्वती उनकी

शक्ति है। (ब्रह्माके पिता श्रीमन्नारायणकी भी पत्नी इनको कहा गया है, इसीसे भगवान्‌का एक नाम वागीश है। इस तरह भी जगज्जननी हैं। सरस्वती अपनेको कुमारी कहती हैं, ब्रह्माकी कन्या हैं और पिताके अधीन हैं—बालकाण्ड मं० श्लोक १ देखिये। इस तरह पितामहकी कन्या होनेसे भी माता सम्बोधन ठीक ही है। और इस समय तो उससे काम लेना है)। अतः *'मातु'* कहा। पुनः भाव कि आप माता हैं, हम आपके बालक हैं, पुत्र हैं। माताका पुत्रपर वात्सल्य होता ही है, वह अपने पुत्रोंको सदा सुखमें देखना चाहती है, तब आप हमारी विपत्ति छुड़ाकर हमें सुखी क्यों नहीं करतीं। तू माता है, हम तेरे बच्चे हैं, तेरे बारम्बार चरण पकड़कर विनती करते हैं, अतः तुझे हमारा मनोरथ पूर्ण करना ही पड़ेगा।' (ग) ***'करिअ सोइ आजु'***—भाव कि सबेरा हुआ नहीं कि राज्याभिषेक हो जायगा, तिलक हो जानेपर फिर कुछ भी उपाय काम न देगा; अतएव आज ही रातभरमें ही कार्यकी सफलताका उपाय कर देना चाहिये। (घ) ***'रामु जाहिं बन राज तजि'***—यहाँ दो बातोंके लिये प्रार्थना करते हैं। एक तो वह उपाय करें कि वे राज्य स्वीकार न करें, राज्यका त्याग करें; दूसरे, वनको जायँ। ऐसा न हो कि राज्य न लें पर घरमें या अन्यत्र कहीं बने रहें। (दशरथजीने कैकेयीसे कहा ही है—***'राखु राम कहुँ जेहि तेहि भाँती।'*** (३४। ८) कैकेयीकी प्रिय विप्रवधुओं आदिने भी कहा कि ***'भरतहि अवसि देहु जुबराजू। कानन काह राम कर काजू॥ गुर गृह बसहुँ राम तजि गेहू। नृप सन अस बर दूसर लेहू॥'*** (५०। २—४)—यही बात सोचकर देवता वन जानेका भी उपाय करनेको कहते हैं। बिना वनको गये देवकार्य न होगा। ***'जाहिं बन'*** को प्रथम कहा, क्योंकि मुख्य कार्य यही है।

सुनि सुर बिनय ठाढ़ि पछताती। भइउँ सरोज बिपिन हिमराती॥ १॥
देखि देव पुनि कहहिं निहोरी। मातु तोहि नहिं थोरिउ खोरी॥ २॥
बिसमय हरष रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु सब राम प्रभाऊ*॥ ३॥
जीव करम बस सुख दुख भागी। जाइय अवध देवहित लागी॥ ४॥

शब्दार्थ—**ठाढ़ि**=खड़ी हुई। **भइउँ**=(मैं) हुई। **सरोज**=कमल। **बिपिन**=वन। **हिम**=हिमऋतु, हेमन्त-ऋतु अर्थात् अगहन-पौष-मास, पाला। **निहोरी**=विनय करके—इस शब्दमें कृतज्ञता (एहसान) का भी भाव रहता है। अर्थात् आपका बड़ा उपकार या एहसान मानेंगे। **खोरी**=दोष। **बिसमय** (विस्मय)=विषाद, दुःख, खेद, हृदयकी वह दशा जो अलौकिक या किसी विलक्षण कार्य या घटनासे उत्पन्न होती है। **भागी**=भाग या हिस्सा पानेवाला, हिस्सेदार, भोगनेवाला। **लागी**=लिये। **प्रभाऊ** (प्रभाव)=महिमा, महत्त्व।

अर्थ—(सरस्वती) देवताओंकी विनती सुनकर खड़ी पछता रही है (कि हाय!) कमलवनके लिये मैं हेमन्त-ऋतु वा पालाकी रात हुई॥ १॥ यह देख देवता फिर विनती करके कहने लगे—हे माता! आपको इसमें किञ्चित् भी दोष न लगेगा॥ २॥ श्रीरामचन्द्रजी तो दुःख-सुखरहित हैं। तुम तो स्वयं रामचन्द्रजीकी यह सब महिमा जानती हो†॥ ३॥ जीव अपने कर्मवश सुख-दुःख भोगता है। अतः आप देवताओंके हितके लिये अयोध्याको जाइये॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) ***'सुनि सुर बिनय'*** अर्थात् राज्यभङ्ग और वनगमन करानेका आग्रह सुनकर। (ख)

* राजापुर, काशीराज, भा० दा०, ना० प्र० इत्यादिसे प्राचीन पाठ यही सिद्ध होता है। कुछ छपी पुस्तकोंमें 'रघुबीर सुभाऊ' पाठ है।

† कुछ लोग यह अर्थ करते हैं—(१) 'यह सब तुम रामजीके प्रभावसे जानती हो।' यथा—'तुम्हरेहि भजन प्रभाव अघारी। जानौं महिमा कछुक तुम्हारी॥' अथवा, (२) 'तुम जानती हो कि (यह) सब (सारा ब्रह्माण्ड) श्रीरामजीके प्रभावसे (स्थित) है, अतः श्रीरामजी तो हर्ष-विषाद-रहित हैं। श्रीरामजीका सब प्रभाव तो कोई जान ही नहीं सकता। वीरकविजी अर्थ करते हैं कि 'तुम सब तरह रघुनाथजीका प्रभाव जानती हो।'

'ठाढ़ि पछताती'—भाव कि देवताओंके आवाहनसे मैं यहाँ क्यों आ गयी? मैं व्यर्थ ही यहाँ आयी। अब न तो देवकार्य करते बने और न नहीं करते लौटते ही बने। (*'ठाढ़ि'* शब्दसे ज्ञात होता है कि देवता स्वार्थवश ऐसे आर्त और आतुर हैं कि उन्होंने सरस्वतीको बुलाकर आसन भी न दिया, जैसे ही वह आयी ये अपना दुखड़ा सुनाने लगे—*'रहइ न आरतके चित चेतू', 'आरत काह न करइ कुकरमू'* यहाँ चरितार्थ हुआ। क्या पछताती है यह आगे कहते हैं। (ग) *'भइउँ सरोज बिपिन हिमराती'* इति। कमलवनको मैं पालाकी रात हुई। अर्थात् अवधवासी कमलके समान प्रफुल्लित हैं, रामराज्य भङ्ग करनेसे सब सूख जायँगे। यहाँ अयोध्या तालाब है, पुरवासी कमल हैं। पुरवासी बहुत हैं अतः उन्हें सरोजवन कहा। कमल सूर्यका स्नेही है, वैसे ही समस्त पुरवासी श्रीरामजीके स्नेही हैं। श्रीरामजी सूर्य हैं। कमल सूर्यके प्रकाशसे, सूर्योदय देखकर खिलते हैं, वैसे ही पुरवासी इस समय श्रीरामराज्याभिषेक सुनकर विकसित हुए हैं। (श्रीरामराज्याभिषेकका भङ्ग करना रात्रि करना है और रामवनगमन कराना पाला डालना है। हिम-ऋतुमें बहुत शीत पड़ती है जिससे कमल सूख जाते हैं और उसमें भी यदि पाला पड़ा तो कमल बिलकुल झुलस जाते हैं। यही दशा पुरवासियोंकी हो जायगी) यह अपराध मुझे ही करना पड़ेगा इसीका पछतावा है। (यहाँ विघ्न डालनेका पश्चात्ताप प्रस्तुत वृत्तान्त है, उसे न कहकर यह कहना कि मैं हिमरात्रि हुई अर्थात् उसका प्रतिबिम्ब मात्र कहना 'ललित अलङ्कार' है।)

टिप्पणी—२ *'देखि देव······'* इति। (क) *'देखि'* से ज्ञात होता है कि देवताओंने उसका पछताना देखा। उसकी दशा देखकर (उसको पश्चात्ताप करते हुए देख या समझकर) वे जान गये कि यह नहीं करना ही चाहती है अतः वे घबड़ा गये कि यह कहीं चल न दे, लौट न जाय। इसीसे वे *'पुनि कहहिं निहोरी।'* (ख) *'पुनि'*—एक बार प्रथम ही विनती करके कह चुके हैं, अब दुबारा करते हैं अतः 'पुनि' शब्द दिया। (*'निहोरी'* शब्दमें कृतज्ञता, एहसान—उपकार जनाते हुए विनयका अभिप्राय रहता है। अतः *'कहहिं निहोरी'* का भाव यह है कि हम जन्मभर आपका उपकार मानेंगे, आप हमारे लिये अयोध्यामें जायँ)। (ग) *'मातु तोहि नहिं थोरिउ खोरी'*—इससे जान पड़ता है कि देवताओंने अनुमान किया कि वह अपनेको दोष लगनेको पछताती है (इस कार्यमें वह अपना अपराधजनित दोष समझ रही है)। अतएव वे उसका समाधान करते हैं कि *'मातु तोहि······'*, आपको कुछ भी दोष न लगेगा (सत्य ही है। दोष तो लगा कैकेयीको। सब दोष उन्हींके मत्थे मढ़ा गया)।

टिप्पणी ३—*'बिसमय हरष रहित····'* इति। (क) विस्मय (विषाद) और हर्ष जीवके धर्म हैं, यथा—*'हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥'* (१। ११६) और श्रीरामजी हर्ष-विषाद-रहित हैं (क्योंकि वे ब्रह्म हैं, जीव नहीं हैं)। (ख) *'तुम्ह जानहु सब····'*—तुम सब रामजीका प्रभाव जानती हो कि वे समस्त ब्रह्माण्डोंके स्वामी हैं, उनको अयोध्याका राज्य पानेका न तो हर्ष है और न राज्यके छूटनेका विषाद। यथा—*'राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥'* (१। ११६), *'की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार॥'* (४। १), *'भुवन अनेक रोम प्रति जासू। यह प्रभुता कछु बहुत न तासू॥'* (७। २२) 'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।' (मं० श्लो०) इस तरह श्रीरामजीकी ओरसे सफाई देते हैं, उनकी तरफसे उसे विश्वास दिलाते हैं कि उनको दुःख न होगा, तुम अवधमें जाकर उनके वनगमनका प्रयत्न करो। यह कहकर आगे अवधवासियोंके विषयमें सफाई देते हैं—*'जीव करम बस····'*।

नोट—एक महानुभावने यहाँ शङ्का करके कि 'यदि शारदा श्रीरामजीका सब प्रभाव जानती होती तो ब्रह्मा यह कैसे कह सकते थे कि *'सारद श्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहुँ कोउ नहिं जाना।'* (१। १८६) तथा यह कैसे कहा गया कि *'तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा॥'* (७। ९१), *'सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान॥'* (१। १२) इत्यादि?' *'तुम्ह जानहु सब····'* इस चरणका अर्थ दूसरी प्रकार किया है जो पूर्व पाद-टिप्पणीमें दिया गया है।

पर हमारी समझमें यहाँ शङ्काकी कोई बात नहीं है। देवता स्वार्थसे अंधे होकर अपना काम बनानेके लिये सरस्वतीकी प्रशंसा कर रहे हैं, जिसमें वह प्रसन्न हो जाय। यह झूठी प्रशंसा है।

टिप्पणी—४ *'जीव करम बस·····'* इति। (क) श्रीरामजी हर्ष-विषाद-रहित हैं, उनको दुःख न होगा, यह ठीक है, पर समस्त अवधवासियोंपर तो घनी विपत्ति पड़ जायगी? इसपर कहते हैं कि जीव अपने कर्मोंके अधीन है, कर्मके वश होकर दुःख-सुखका भागी होता है। यथा—*'करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥'* (२१९। ४) कोई किसीको दुःख-सुख नहीं देता, यथा—*'काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥'* (९२। ४) (जब जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही फल पाता है, इसमें किसी दूसरेका किञ्चित् भी दोष नहीं, तब तुम्हें दोष कैसे लग सकता है और उनको तुम दुःख पहुँचानेवाली कैसे हो सकती हो? स्मरण रहे कि जीव *'चेतन अमल सहज सुखरासी'* है। मायाके वश हो जानेसे वह कर्माभिमानी हो गया, अपनेको कर्मोंका कर्ता मानने लगा। कर्तृत्वाभिमानी होनेसे ही वह बन्धनमें पड़ा, यथा—*'सो माया बस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मर्कट की नाईं॥·····तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥'* (७। ११७) अतएव मनुष्यको चाहिये कि कर्माभिमानी होकर कर्म न करे, जो कुछ करे वह कर्तव्य समझकर करे, किसी फलकी कामनासे न करे। निष्काम कर्म न हो सके तो कर्मोंको भगवान्‌को समर्पण कर दिया करे। इससे वह उसके परिणाम दुःख, सुख, भवबन्धनसे बच जायगा)। (ख) *'जाइय अवध देवहित लागी'*— भाव कि परहित करना परम धर्म है, यथा—*'परहित सरिस धर्म नहिं भाई।'* आपको इस कार्यसे परम धर्मका लाभ होगा। (पुनः भाव कि हम सब देवता हैं और आप भी देवी हैं। सजातीयताके सम्बन्धसे भी हमारे साथ उपकार करना आपका कर्तव्य है, अवधवासी विजातीय हैं)।

बार बार गहि चरन सकोची। चली बिचारि बिबुध* मति पोची॥ ५॥
ऊँच निवासु नीच करतूती। देखि न सकहिं पराइ बिभूती॥ ६॥
आगिल काजु बिचारि बहोरी। करिहहिं चाह कुसल कबि मोरी॥ ७॥
हरषि हृदय दसरथपुर आई। जनु ग्रह दसा दुसह दुखदाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**सकोची**=सङ्कोचमें डाल दिया, मुरव्वत, मुलाहजामें डाला। **निवास**=बैठनेका स्थान, रहन। **पोची**=नीच, ओछी। **करतूती**=कर्तृत्व, कर्म, करनी। **पराइ**=दूसरेकी। **आगिल**=आगेका। **चाह**=इच्छा। **कुसल**=(कुशल) चतुर, प्रवीण। **दुसह**=जो कठिनतासे सही जा सके। दशा=फलित ज्योतिषके अनुसार मनुष्यके जीवनमें प्रत्येक ग्रहका नियत भोगकाल। दशा जन्मकालके नक्षत्रके अनुसार मानी जाती है। जैसे यदि जन्म कृत्तिका, रोहिणी वा मृगशिरा नक्षत्रमें होगा तो सूर्यकी दशा होगी। इत्यादि। प्रत्येक ग्रहकी दशाका फल अलग-अलग निश्चित है। जैसे, सूर्यकी दशामें चित्तका उद्वेग, धनहानि, क्लेश, विदेशगमन, बन्धन, राजपीड़ा इत्यादि। प्रत्येक ग्रहके नियत, भोगकाल वा दशाके अन्तर्गत भी एक-एक ग्रहका भोगकाल नियत है। जिसे अन्तर्दशा कहते हैं·····। योगिनी, वार्षिका, लाग्निकी इत्यादि और भी अनेक दशाएँ हैं—(श० सा०)। ग्रहदशा अर्थात् रवि, शनि, मंगल, राहु इत्यादि ग्रह जन्मके, पिङ्गला, भ्रामरी, उल्का, सङ्कटादि दशा, वा क्रूर ग्रहकी दशा विंशोत्तरी इत्यादि ग्रहदशा।—(बैजनाथजी)।

अर्थ—देवताओंने बारम्बार चरण पकड़-पकड़कर उसे संकोचमें डाल दिया। तब वह यह विचारकर चली कि देवताओंकी बुद्धि ओछी है॥ ५॥ इनका निवास तो उच्च है, पर करनी नीच है, वे दूसरेका ऐश्वर्य नहीं देख सकते॥ ६॥ किन्तु आगेका कार्य विचारकर कि चतुर कवि मेरी चाह (मेरा स्मरण) करेंगे॥ ७॥ ऐसा सोच करके वह प्रसन्न हृदयसे दशरथजीके नगरमें आयी, मानो दुःसह दुःख देनेवाली ग्रह-दशा आयी हो॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'बार बार गहि·····'* इति। (क) देवताओंने प्रथम ही बार-बार चरणोंपर पड़कर विनय की

* बिबिध—राजापुर।

थी, यथा—*'बारहिं बार पाय लै परहीं।'* (११।८) जब वह न बोली, समय अधिक बीता, चित्तमें अत्यन्त सन्देह और घबराहट हुई कि हमारी इतनी विनय, निहोरा और पैरों पड़नेपर भी इसके मनमें दया न आयी, तब बार-बार चरण पकड़-पकड़कर उसे संकोचवश करने लगे। [चरण पकड़ना अत्यन्त दीनता प्रकट करता है। भाव कि हम जाने न देंगे, जबतक हमारा कार्य करनेको उद्यत न होगी। हम सब तुम्हारी शरण हैं, शरणकी लज्जा रखिये। देखिये, *'शरणागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि। ते नर पामर पापमय तिन्हहिं बिलोकत हानि॥'* (५। ४३) बारम्बार ऐसा करनेसे वह संकोचमें पड़ ही गयी। (ख)*'चली बिचारि'*—अर्थात् देवकार्य करना स्वीकार कर लिया और उसकी पूर्तिके लिये चली] (ग) *'बिचारि बिबुध मति पोची'*— भाव कि मैं देवताओंकी स्वामिनी हूँ, मुझे संकोचमें डालकर अपना हित करते हैं अतः ये ओछी बुद्धिके हैं; यथा—*'जो सेवक साहिबहिं सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥'* (२६८। ३) अथवा, दूसरेका काम बिगाड़कर अपना हित करते हैं। अतएव *'मति पोची'* कहा। (पुनः भाव कि कहनेको तो ये विबुध अर्थात् विशेष बुद्धिमान् कहे जाते हैं, पर इनकी बुद्धि है बहुत ही नीच। पंजाबीजीका मत है कि 'विबुध' से जनाया कि सचमुच ये विगत-बुद्धि हैं। ये स्वयं तो नीच हैं ही, दूसरेको भी कलङ्कित करते हैं जो इनका कहा करे)। *'बिचारि'* शब्द देकर जनाया कि उसने मुँहसे कुछ न कहा, मनमें ऐसा विचार करती चली। [अ० रा० की सरस्वतीने तो स्पष्ट हामी भर ली थी । यथा—*'तथेत्युक्त्वा'*…।' (२। २। ४६) वहाँ देवताओंने उससे इसे (विघ्न डालनेको) ब्रह्माकी आज्ञा बताया है। पाठक स्वयं विचार कर लें।]

टिप्पणी २—*'ऊँच निवासु नीच करतूती।'…।'* इति। (क) निवास ऊँचा है, स्वर्गमें रहते हैं और काम करते हैं नीच अर्थात् नरकवासियोंका । स्वर्गमें बैठकर नरकमें जानेका काम करते हैं। *'देखि न सकहिं पराइ बिभूती'*—अर्थात् दूसरेकी विभूतिका नाश चाहते हैं। यह मत्सर है। इससे जनाया कि इनमें मत्सर दोष बहुत रहता है। यथा—*'स्वर्गहु मिटत नसावत'* (विनय०) *'मति पोची'* से अन्तःकरणके और *'नीच करतूती'* से कर्मके मलिन अर्थात् भीतर-बाहर दोनोंसे मलिन जनाया। (*ऊँच निवासु नीच करतूती'* में प्रथम 'विषम अलङ्कार' है)।

नोट—१ विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि 'इस सम्पूर्ण दोषारोपणको श्रीगोसाईंजीने देवताओंके ऊपर रखनेके बहानेसे मनुष्यकी चित्तवृत्तियोंका प्राकृतिक घटनाओंद्वारा उद्वेग सूचित करनेके साथ अनन्त परमात्माकी निश्चेष्ट अवस्थाका पूर्ण प्रतिपादन बड़ी सुन्दरतासे किया है।'

नोट—२ *'आगिल काजु बिचारि बहोरी'…'* इति। अब हर्ष क्यों? देवताओंने स्वार्थ-साधनहेतु इसकी खुशामद की थी, अयोध्यावासियोंपर इस मङ्गल अवसरपर विपत्ति डालनेसे, उसे भय था कि हमारी पूजा-प्रतिष्ठा उठ जायगी, बनी-बनायी मर्यादा जाती रहेगी, अतः देवताओंको *'ऊँच निवासु नीच करतूती'* कहा। अब देवकार्य करनेमें हर्ष है, स्वविचार इसका हेतु है। चली तब यह विचार जीमें स्फुरित हुआ कि राम-वनवास होनेसे लीला प्रारम्भ होगी, इस रघुपतिलीलाको कवि लिखना चाहेंगे तब वे हमारा आराधन और आवाहन किया करेंगे, मैं उनकी जिह्वा और हृदयपर विराजमान होकर रामचरित कहूँगी—इससे जगत्‌में मेरा यश होगा; अतः वह प्रसन्नतापूर्वक नगरको आयी। पंजाबीजी लिखते हैं कि अब तो कार्यका बीड़ा ही उठाया। इससे हर्षपूर्वक करना ही चाहिये। पुनः यहाँ मन्थरा कार्यके योग्य पात्र मिल गयी, इससे प्रसन्न हुई।

टिप्पणी—३ (क) *'आगिल काजु बिचारि'…'* इति। *'आगिल काजु'* अर्थात् श्रीरामवनगमनसे पृथ्वीका भार उतरेगा, सब जीव सुखी होंगे इत्यादि विचार आनेसे हर्ष हुआ। *'करिहहिं चाह कुसल कबि मोरी'* इस कथनसे पाया गया कि प्रथम सरस्वतीको शङ्का हुई थी कि रामराज्य भङ्ग करनेसे कवि मेरा स्मरण न करेंगे, पर पुनः विचार करनेपर उसने निश्चय किया कि आगेका कार्य समझकर कवि मेरी चाह करेंगे, वे सोचेंगे कि सरस्वतीने बहुत अच्छा काम किया है, रामवनगमनसे समस्त विश्वका कल्याण हुआ। (ख) *'दसरथपुर'*—भाव कि इस पुरके पति दशरथ महाराज हैं उनके ऊपर दुःसह दुःखदायी दशा आयी, पीछे पुरपर आयी।

[यह दशा श्रीदशरथजी और उनके पुर दोनोंपर आयी। दशरथ-पुर=दशरथ और दशरथपुर। प्रथम दशरथपर आयी अतः प्रथम उनका नाम दिया। 'रामपुर' न कहा क्योंकि उसमें तो अनर्थ हो ही नहीं सकता (प्र० सं०)]

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'हरषि हृदय दसरथपुर''''* इति। *'सब बिधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद्र मुखचंदु निहारी॥'* अतः सरकारकी ग्रहदशा ही सबकी ग्रहदशा है। सो बुधकी महादशामें केतुके साथ शुक्रकी अन्तर्दशाके रूपमें आयी। श्रीरामजीका जन्म बृहस्पतिकी महादशामें हुआ, चार वर्षतक वही रही। तत्पश्चात् शनैश्चरकी महादशा उन्नीस वर्षके लिये आयी। चौबीसवें वर्षमें बुधकी महादशा लगी। सत्ताईसवेंमें शुक्रकी अन्तर्दशा आ गयी। शुक्र केतुके साथ थे। इसलिये यह दुःसह दुःखदायी दशा थी। इसने पदच्युत करके ही माना।

नोट ३—सरस्वती मङ्गलरूपा है अतः सरस्वतीरूपसे अमङ्गल कहते नहीं बनता, क्योंकि वह दुःखद होती नहीं। अतएव ग्रहदशारूपसे अमङ्गल कहते हैं। इसीसे उसकी उत्प्रेक्षा ग्रहदशाकी की गयी। 'ग्रहदशा' से साधारणतया सब या कोई भी क्रूर (बुरे) ग्रहकी दशाका अर्थ होता है; पर यहाँ 'ग्रह' से शनिकी दशा गृहीत होगी जो साढ़े सात वर्षकी होती है, इसमें विशेष दुःख होता है। यह भाव 'दुःसह दुखदाई' से निकलता है। और आगे भी कहा है—*'अवध साढ़साती तब बोली।'* यहाँ 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

दो०—नामु मंथरा मंदमति चेरी कैकइ केरि।
अजस पेटारी ताहि करि गई गिरा मति फेरि॥१२॥

शब्दार्थ—**चेरी**=दासी। **अजस**=अयश, अपयश। **पेटारी** (पिटारी, पेटिक)=संदूकची, टेपारी। ये प्रायः बाँसकी खँपाचियोंके बने संदूकनुमा ढक्कनदार डब्बे होते हैं। **गिरा**=वाणी, सरस्वती। **फेरि**=पलटकर, उलटकर।

अर्थ—मन्थरा नामवाली मन्दबुद्धि जो कैकेयीकी दासी थी उसे अपयशकी पिटारी बनाकर सरस्वती उसकी बुद्धि फेरकर चली गयी॥१२॥

नोट—१(क) *'नामु मंथरा मंद''''*—भाव कि इसका नाम और मति दोनों मन्द हैं। इसका नाम मन्थरा पड़ा, क्योंकि यह पूरी मन्थर अर्थात् मट्ठर, मन्द वा सुस्त, टेढ़ी एवं नीच है। ये सब अर्थ 'मन्थर' शब्दके हैं। यह तीन जगहसे टेढ़ी थी और मन्दबुद्धि थी। यह सत्योपाख्यानमें बताया गया है। पंजाबीजी कहते हैं कि *'मन्थ'* विलोडने धातु है। विलोडन=इष्टका प्रतिघात। मन्थरा=इष्टका प्रतिघात करनेवाली, यह नाम ही दुष्ट है। विलोडन बिलोनेको भी कहते हैं। अर्थात् मथना, चारों ओरसे खूब हिलाना, उथल-पुथल, अस्त-व्यस्त करना। ये अवगुण जिसमें हों वह 'मन्थर' है। (ख) *'मंथरा''''चेरी कैकइ केरि'*—मन्थराकी कथा सत्योपाख्यान पूर्वार्ध (अ० १०। १५) में और कैकेयीके विवाह तथा मन्थरा दासीका उनके साथ अयोध्यामें आनेकी कथा (अ० ५ से ८) में है। इन कथाओंसे ज्ञात होगा कि मन्थरा कौन थी, उसको ही विघ्न डालनेके लिये क्यों चुना गया?

'मन्थरा'—श्रीराम-वनवासके पश्चात् लोमशऋषि अवध आये। तब लोगोंने उनसे प्रश्न किया कि रामचन्द्रजीमें योगी और मुनि रमण करते हैं, उनके राज्यमें मन्थराने क्यों विघ्न डाला? उत्तरमें उन्होंने उसकी पूर्वजन्मकी कथा सुनायी जो यों है। १—यह प्रह्लादके पुत्र विरोचनकी कन्या थी। जब विरोचनने देवताओंको जीत लिया तब देवताओंने विप्ररूप धरकर उससे दानमें उसकी शेष आयु माँग ली। दैत्य बिना सरदारके हो गये। तब मन्थराने दैत्योंकी सहायता की, देवता हारकर इन्द्रके पास गये, उन्होंने स्त्रीका वध करनेसे इनकार किया। तब वे भगवान् विष्णुकी शरण गये। वे शस्त्र धारण किये हुए समरभूमिमें आये और इन्द्रको उसके मारनेकी आज्ञा देते हुए कहा कि पापिनी आततायिनीका वध उचित है। आज्ञा पाकर इन्द्रने वज्र चलाया। वह चिल्लाती हुई पृथ्वीपर आ गिरी, कूबड़ निकल आया। घरपर सबने उलटे उसीको बुरा-भला कहा।

मन्थरा पीड़ासे व्यथित क्रोधमें भरी रोती बरबराती हुई, कि विष्णु पापात्मा हैं हमको इन्द्रसे मरवाया,

पहले भृगुकी स्त्रीको मारा, फिर वृन्दाको छला, नृसिंह हो प्रह्लादके पिताको छला; इसी तरह सदैव कपट व्यवहार करके देव-कष्टको दूर किया करते हैं, उसी दशामें मर गयी। मरते समय विष्णुभगवान्से और असुरोंसे (क्योंकि इन्होंने समरमें इसका साथ छोड़ दिया था और उनकी स्त्रियोंने उलटे इसीको चार बातें सुनायी थीं) बदला लेनेकी वासना रही; इससे वह दूसरे जन्ममें कैकेयीकी दासी हुई। उस पुराने वैरको निकालनेके लिये उसका जन्म हुआ, क्योंकि उसने मनाया था कि भगवान् ऐसी जगह जन्म दें कि उनके समीप रहकर उनके कार्यमें विघ्न डालूँ। मन्थरा नाम पड़ा क्योंकि यह पूरी मन्थर है, तीन जगहसे टेढ़ी है और मन्दबुद्धि है।

'चेरी कैकइ केरि'—एक बार नारदजी चक्रवर्ती महाराजके पास आये और उनसे राजा केकय (वर्तमान काकेशिया वा काकेशस और किसी-किसीके मतसे काश्मीर) की लड़की कैकेयीकी सुन्दरताकी प्रशंसा करते हुए बोले कि उसकी हस्तरेखाओंसे सिद्ध होता है कि वह एक बड़े तपस्वी धर्मात्मा पुत्रकी माता होगी, इससे विवाह कीजिये, पुत्र होगा। अब राजाको चिन्ता हुई कि उससे ब्याह क्योंकर हो। धात्री योगिनीने इसका बीड़ा उठाया। योगिनीने केकयदेशमें आ, कैकेयीका अपने ऊपर विश्वास जमा, उससे दशरथ महाराजके रूप, तेज, बल, ऐश्वर्यकी प्रशंसा कर, उसको रिझा लिया।······होते-होते राजा केकयको खबर हुई। उन्होंने सभामें गर्गाचार्य इत्यादिसे सम्मति ली, गर्गजीने रावणके वधकी भविष्य कथा उनको सुनायी। तब केकयराजने गर्गजीके द्वारा चक्रवर्ती महाराजके पास यह सन्देश (समाचार) भेजा कि यदि आप यह प्रतिज्ञा करें कि केकयीका पुत्र राज्यका उत्तराधिकारी होगा तो फलदान कर दिया जाय, राजा यह समाचार सुन शोचमें पड़ गये, वसिष्ठ आदिको बुलाकर सम्मति ली। वसिष्ठजीने सलाह ब्याह कर लेनेकी दी, यह कहते हुए कि अभी उसकी चिन्ता क्या करना; पुत्र धर्मज्ञ होगा; इससे वह कोई अड़चन न डालेगा। अतएव ब्याह हुआ, मन्थरा दासी कैकेयीके साथ अवध आयी।

पं० रामकुमारजी इसका पूर्व नाम दीर्घजिह्वा और विनायकी टीकाकार दुन्दुभी लिखते हैं।

टिप्पणी—१ *'नामु मंथरा मंद·····'* इति। भाव कि अयोध्याजीमें रामविमुख श्रीरामजीसे विरोध रखनेवाली एक यही थी, दूसरा कोई न था। फिर यह मन्दबुद्धि है। मन्दबुद्धिकी मति शीघ्र फिरती है, दिव्य बुद्धि जल्दी नहीं फिरती। यथा—*'बिधि हरि हर माया बड़ि भारी। सोउ न भरत मति सकइ निहारी॥ सो मति मोहि कहत करु भोरी। चंदिनि कर कि चंडकर चोरी॥'* (२९५। ५-६) उसपर भी यह 'चेरी' (दासी) है अर्थात् नीच है। इससे उसकी ही मति फेरी, उत्तम स्त्री-पुरुषोंको अपयश देनेका साहस न पड़ सका। पुनः भाव कि सरस्वती जानती है कि राजा केकयीके वशमें हैं, उन्होंने उसे दो वरदान देनेको कहे हैं। मन्थरा केकयीकी चेरी है और प्रिय है, यदि मैं चेरीकी मति फेर दूँ तो वह केकयीकी मति फेर देगी, बस काम बन जायगा। अतः चेरीकी मति फेरी।

नोट—२ *'चेरी कैकइ केरि····'* वाल्मीकीय रामायण (२-३५) में सुमन्तजीने केकयीको चुभनेवाले ये शब्द कहे थे—

'जब तूने अपने पतिकी यह दशा कर डाली तो अब तू और क्या करेगी? तेरी माता तो ऐसी ही थी तब तू क्यों वैसी न होती? केकयराजको वरदान था कि पक्षियोंकी बोली समझ लें। एक बार जिरम्भ नामक पक्षीकी बोली समझकर वे हँसे। इसपर रानीने हँसनेका कारण पूछा। वे बोले कि हमें बतानेकी आज्ञा नहीं, बतानेसे हमारी मृत्यु हो जायगी। रानीने न माना और क्रुद्ध होकर कहा कि चाहे मरो या जियो, जो हो, पर हमको बता दो। राजा असमञ्जसमें पड़ गये, उस समय वही साधु आये जिसका इन्हें वरदान था और इनसे कहा कि स्त्री चाहे मरे, चाहे नष्ट हो जाय, पर बात कदापि न बताना। तब राजाने उसको निकाल दिया। तू भी वैसी ही निकली। (श्लोक १७—२६) तूने भी दुर्जनोंके मार्गपर पैर दिया है, राजाको मोहित कर उनके द्वारा निन्दित काम करा रही है। यह लोकोक्ति मुझे बिलकुल ठीक मालूम पड़ती है, कि पुत्र पिताके समान होते हैं और लड़कियाँ माताके समान। यथा—**'पितॄन्समनुजायन्ते नरा मातरमङ्गनाः।'** (२। ३५। २८) इस कथाके आधारपर भाव यह निकलता है कि जैसे केकयराजकी स्त्रीको अपने हठके आगे अपने पतिके मरनेकी परवा न थी, वह दुर्जनोंके मार्गपर

चली थी वैसी ही उसकी कन्या भी हुआ ही चाहे। जब केकयी ऐसी है तो उसकी दासी भी वैसी ही होगी, इसमें सन्देह नहीं।

वाल्मीकिजी लिखते हैं कि मन्थरा केकयी के मातृकुलकी दासी थी, उसके जन्म आदिका पता न था। वह केकयीके ही साथ रहती थी। यथा—'**ज्ञातिदासी यतो जाता कैकेय्या तु सहोषिता।**' (२। ७। १) इस प्रकारकी दासीका व्यवहार घरके और लोगोंके साथ कैसा रहता है, यह हिंदू गृहस्थमात्र जानते हैं। कैकेयीके मातृकुलकी नीच दासी होनेसे इसे कौसल्याजीसे चिढ़ होना स्वाभाविक है। अत: मन्थराको छोड़ इससे अधिक योग्य पात्र सरस्वतीको और कौन मिल सकता? (विशेष आगे टिप्पणी २ में देखिये)।

टिप्पणी—२ '*अजस पेटारी ताहि करि*....' इति। भाव कि सारा अपयश इसी पिटारीमें भरा रहेगा। जो कोई इसे रखेगा और जो खोलेगा उसे भी अपयश मिलेगा। इसको रखने, (इसका सङ्ग करने) और इसको खोलनेवाली कैकेयी हैं। इसीसे '***चेरी कैकइ केरि***' कहा। पिटारीके नीचे भागमें वस्तु रहती और ऊपरका भाग (पीठ) ऊँचा होता है वैसे ही मन्थराके पेटमें अपयश भरा है और पीठ ऊँची है, कूबड़ उठा हुआ है।

नोट—३ (क) इसीको अपयशकी पिटारी बनाया। क्योंकि बुद्धिके योग्य ही देवमाया लगती है। यथा—'***भरत जनक मुनिजन सचिव साधु सचेत बिहाइ। लागि देवमाया सबहि जथा जोगु जनु पाइ॥***'(३०२) अवधभरमें एक यही मन्थरा कुबुद्धि, कुजाति और विदेशकी थी, अवगुणखानि भी दूसरी ऐसी न थी। कैकेयीजीने स्वयं कहा है '***काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि। तिय बिसेषि पुनि चेरि***....।' (१४) इससे इसीको अपयशकी पिटारी बनाया। (ख) '***गई गिरा***'—बुद्धि फेरकर चली गयी, जिसमें यह अनर्थ देखनेमें न आवे। अवधपर विपत्ति देखनेको समर्थ न हुई। (रा० प्र०) '***गई***' से जनाया कि मन्थराकी जिह्वा वा मुखमें नहीं बैठी, बुद्धि फेरकर चली गयी। (पं० रा० कु०)। (ग) ☞अ० रा० में देवताओंने ही युक्ति भी बतायी है कि प्रथम तुम मन्थरामें प्रवेश करना और फिर कैकेयीमें। तब सरस्वतीने 'बहुत अच्छा' कहकर वैसा ही किया। यथा—'**मन्थरां प्रविशस्वादौ कैकेयीं च ततः परम्।**' (२। २। ४५)......'**प्रविवेशाथ मन्थराम्॥**' (४६)

नोट—४ कैकेयी क्यों अपयशकी पात्र बनायी गयी, उनको तो रामचन्द्रजी परम प्रिय थे? इस विषयमें पुराणान्तर्गत कई कथाएँ हैं। सत्योपाख्यानके अ० २७ में यह कथा है कि एक बार गन्धर्वोंका राजा विश्वावसु अप्सराओंसहित अवधमें आया, इसके गानसे सब मोहित हो गये। श्रीराम-लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नजी उसकी गोदमें जा बैठे, नहीं उतरते थे; पर वह बिना इन्द्रकी आज्ञाके रुकना न चाहता था। कैकेयीजी इस बातपर रुष्ट हुई और उन्होंने इन्द्रको जाबेजा कहा। इन्द्रको समाचार मिला तो उसने प्रतिज्ञा की कि हम इसका बदला लेंगे। राज्यरस-भङ्गका सारा दोष इसीके सिर पड़ेगा। गोस्वामीजीने अपयशका कारण '***को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मते चतुराई॥***' बताया है।

श्रीरणबहादुरसिंहजी लिखते हैं कि एक बार कैकेयीजीके पिताने शिकार करते समय एक मृगका वध किया तब उसकी मृगी रोती हुई अपनी माताके पास गयी। उसने सब वृत्तान्त सुन राजाके निकट आकर कहा कि यह मेरा जामाता है, तुम इसे छोड़ दो मैं इसे जीवित कर लूँगी कारण कि मैं यक्षिणी हूँ मेरे भयसे यह निर्भय फिरता है। राजाने यह वचन सुन उसके तलवार मारी। तब उसने मरते समय कहा कि राजन्! जैसे तुमने मेरा प्राण लिया इसी प्रकार मैं तुम्हारे जामाताका प्राण लूँगी। वही मृगी यह मन्थरा हुई।.... [यह कथा कहाँसे ली यह नहीं लिखा है। (मा० सं०)]

दीख[१] मंथरा नगरु बनावा। मंगल मंजुल बाजु बधावा॥ १॥
पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू। राम तिलक सुनि भा उर दाहू॥ २॥
करइ बिचारु कुबुद्धि कुजाती। होइ अकाजु कवनि बिधि राती॥ ३॥
देखि लागि मधु कुटिल किराती। जिम गँव तकइ लेउँ केहि भाँती॥ ४॥

१. देखि—लाला सीताराम। दीख—गी० प्रे०, को० रा०, रा० प०।

शब्दार्थ—**बनावा**=बनाव, शृङ्गार, सजावट, सजाया हुआ। **बाजु**=बज रहे हैं। **काह**-क्या। **दाह**=जलन। **अकाज**=विघ्न। **कवनि**=कौन, किस। **मधु**=शहद, शहदका छत्ता। **किराती**=भीलनी। **गँव**=घात, दाँव, अवसर।

अर्थ—मन्थराने देखा कि नगर सजाया हुआ है, सुन्दर माङ्गलिक बधावे बज रहे हैं वा सुन्दर मङ्गल-रचना है, सुन्दर मङ्गल हो रहे हैं और बधावे बज रहे हैं॥ १॥ उसने लोगोंसे पूछा कि क्या उत्सव है? (उत्तरमें) 'रामतिलक' सुनकर उसके हृदयमें दाह हुआ॥ २॥ वह दुर्बुद्धि नीच जातिवाली दासी विचार करने लगी कि किस प्रकारसे आज रात्रिहीमें काम बिगड़े (विघ्न हो)॥ ३॥ जैसे कोई कुटिल किरातिनी शहदका छत्ता लगा हुआ देखकर घात लगाये कि इसे किस प्रकार लूँ॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'दीख मंथरा''''* इति। (क) सरस्वतीने मन्थराकी बुद्धि फेर दी, तब उसके हृदयमें नगर देखनेकी इच्छा हुई। (वह अटारीपर चढ़ी और वहाँसे नगरकी सजावट देखी। यथा—'**सापि कुब्जा त्रिवक्रा तु प्रासादाग्रमथारुहत्। नगरं परितो दृष्ट्वा सर्वतः समलङ्कृतम्॥**' (अ० रा० २। २। ४७) वाल्मीकिजी भी लिखते हैं कि वह अपनी इच्छासे ही बिना किसी कारणके महलके कोठेपर चढ़ी, यथा—'**प्रासादं चन्द्रसंकाशमारुरोह यदृच्छया।**' (२। ७। १) श्लोक २ से ६ तक बनावका वर्णन है। सड़कें चन्दन, अरगजा आदिके जलसे सींची हुई हैं, कमलके पुष्प बिछाये गये हैं। नगरी चारों दिशाओंमें वेदघोषसे मुखरित हो रही है, इत्यादि। (ख) *'नगरु बनावा'*, यथा—*'सफल रसाल पूगफल केरा। रोपहु बीथिन्ह पुर चहुँ फेरा॥ रचहु मंजु मनि चौकें चारू। कहहु बनावन बेगि बजारू॥ ध्वज पताक तोरन कलस सजहु तुरग रथ नाग॥'* (दो० ६) जो गुरुजीकी आज्ञामें कह आये हैं। (ग) *'मंजुल मंगल'*—सुन्दर मङ्गल साजे गये हैं, यथा—*'लगे सुमंगल सजन सब बिधि अनुकूल बिचारि॥'* (८) (घ) *'बाजु बधावा'* यथा—*'सुनत राम अभिषेक सुहावा। बाज गहागह अवध बधावा॥'* (७। ३)

टिप्पणी—२ *'पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू।''''* इति। (क) लोगोंसे पूछा, क्योंकि स्त्रियाँ अभी बाहर नहीं निकली हैं। तिलकके समय मङ्गल लेकर निकलेंगी। ['क्योंकि लोग रचना कर रहे हैं अतः उनसे पूछा। स्त्रियाँ घरके भीतर हैं, इससे उनसे पूछना न कहा।' (प्र० सं०) वाल्मी० रा० और अ० रा० में श्रीरामजीकी धायसे पूछा है। यथा—'**अविदूरे स्थितां दृष्ट्वा धात्रीं पप्रच्छ मन्थरा।**' (वाल्मी० २। ७। ७) मानसमें *'लोगन्ह'* बहुवचन शब्दसे सूचित होता है कि बाहर निकलकर लोगोंसे पूछा। *'पूछेसि'* से सूचित किया कि वह बनाव देखकर विस्मित हुई तब कोठेसे उतरकर उसने पूछा। यथा—'**अयोध्यां मन्थरा दृष्ट्वा परं विस्मयमागता।**' (वाल्मी० २। ७। ६) '**सर्वोत्सवसमायुक्तं विस्मिता पुनरागमत्।**' (अ० रा० २। २। ४८) (ख) *'काह उछाहू'*—अर्थात् नगर क्यों सजाया गया? राममाता लोगोंको बहुत दान क्यों कर रही हैं? सब लोग क्यों बहुत प्रसन्न हैं? राजा क्या कुछ करनेवाले हैं? इत्यादि जो वाल्मीकीय आदिमें है वह सब भी इसमें आ गया।] (ग) *'राम तिलक सुनि भा उर दाहू'*—भाव कि नगरभरको तो रामतिलक सुनकर हर्ष हुआ था, यथा—*'राम राज अभिषेक सुनि हिय हरषे नर नारि।'* पर मन्थराकी मतिको सरस्वती फेर गयी थी, इससे उसके हृदयमें दाह हुआ। (पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि अग्निपुराणकी कथा है कि बचपनमें श्रीरामजीने मन्थराका पैर पकड़कर घसीटा था, तबसे वह बुरा मानती थी। अतः सबको तो रामतिलक सुनकर आनन्द हुआ, पर इसके हृदयमें दाह हुआ। रामविरोधके कुछ कारण पूर्व लिखे जा चुके हैं। यहाँ 'तृतीय उल्लास अलङ्कार' है)।

टिप्पणी—३ *'करइ बिचारु कुबुद्धि''''* इति। (क) *'कुबुद्धि'* से भीतरकी और *'कुजाति'* से बाहरकी मलिन जनाया। अथवा, (एक तो वह स्वयं मन्द थी, उसपर भी) सरस्वतीने उसकी बुद्धि फेर दी (उसे मन्दतर कर दिया) अतः कुबुद्धि कहा। 'कुजाती' का भाव कि सब अवध-पुरवासी सुजाति हैं, यथा—*'मनिगन पुर नर नारि सुजाती'*, पर *'मन्थरा'* कुजाति है। यदि इसे कुजाति न कहते तो यह भी सुजाति ही ठहरती। (ख) *'होइ अकाजु कवनि बिधि राती।'* इससे ज्ञात होता है कि किसीसे सुना है कि कल सबेरे तिलक है; इसीसे रातभरमें काम बिगाड़नेका विचार कर रही है।

पं० वि० त्रिपाठीजी—सबेरा होते ही अभिषेकोत्सव प्रारम्भ हो जायगा, फिर कौन किसकी सुनता

है? अतः कोई विधि ऐसी होनी चाहिये, जिसमें रातमें ही काम बिगड़ जाय। वह विधि ठीक करके भरतजीकी माताके पास गयी। यह समय वही है जब सब माताओंको अभिषेकका समाचार लगा (मिला)। परन्तु यहाँसे दूसरी कथा प्रारम्भ होती है; अतः कवि भरतकी माताके पास समाचार पहुँचनेकी बात पीछे लिख रहे हैं।

टिप्पणी—४ *'देखि लागि मधु····'* इति। (क) जैसे कुटिल किराती मधु (का छत्ता) लगा देखकर गँव ताकता है कि किस भाँतिसे मधु लूँ, वैसे ही मन्थरा गँव ताक रही है कि किस प्रकार रात्रिभरमें काम बिगड़े। 'कुटिल' देहली-दीपक है, मधु और किराती दोनोंके साथ है। मधुको कुटिल कहनेका भाव कि बड़ी मक्खीका मधु कठिन होता है, उसे कोई जल्दी ले नहीं सकता। ['कुटिलमधु' से सारंग मक्खीका मधु समझना चाहिये। यह मक्खी कोसोंतक पीछा करती है, पानीमें भी जाकर काटती है। मन्थरा रात्रिभरमें ही विघ्न डाल देना चाहती है और सारंग मधु भी रातमें ही निकाला जाता है। *'कुटिल किराती'* कहनेका भाव कि अवधमें दोहीको किराती वा किरातिनी कहा है—एक तो मन्थराको (यहाँ), दूसरे कैकेयीको, यथा—*'बिधि कैकई किरातिनि कीन्ही।'* (८४। ३) कैकेयी सीधी किरातिनी है, और मन्थरा कुबड़ी है, कुजाति है; इसीसे कैकेयीको केवल 'किरातिनी' कहा और इसको कुटिल किराती। अथवा, शिकारी अङ्ग टेढ़ा करके तथा टेढ़ी तिरछी दृष्टिसे शिकार अच्छी तरह देखते हैं, इससे तीन जगहसे टेढ़े अङ्गवाली होनेसे मन्थराको कुटिल किराती कहा। (रा० प्र०, प्र०सं०)] (ख) यहाँ अयोध्यापुरी वन है, राजमहल छत्ता है, रामराज्याभिषेक रस (मधु) है, (यह रस राजा, रानी तथा पुरवासियोंके सुकृतरूपी फूलोंका है। रा० प्र० यथा—*'कबहिं लगन मुद मंगलकारी॥ सुकृत सील सुखसींव सुहाई।'* (५२। ७। ८) अवधवासी मधुमक्खी हैं; यथा—*'कहहिं परस्पर पुर नर नारी।''बिकल मनहु माखी मधु छीने।'* (७६। ३-४) मन्थरा कुटिल किराती है।

नोट १—किराती गँव ताकती है कि किस विधिसे मधु मिल जाय, मक्खियाँ पीछा न करें, अतः रात्रिमें कम्बल ओढ़कर इत्यादि विधिसे मधु प्राप्त कर लेती है। वैसे ही कूबरी मन्थरा रात्रिमें ही गुरु-मन्त्री-नगरनिवासियों आदिकी आँख बचाकर कैकेयीरूप कम्बलकी ओट लेकर रामराज्याभिषेकरूपी मधु स्वयं ही निकालकर भरतजीको देनेका प्रयत्न विचारती है। (प्र० सं०, वै०, वि० टी०) गँव यह ताका कि श्रीभरतजी नानाके यहाँ केकयदेशमें हैं, इस समय यह कहनेका अच्छा मौका है कि भरतको बाहर भेजवाकर कौसल्या अपने पुत्रको राज्य दिलाती हैं (प्र० स०), कैकेयीको अभी उत्सवका समाचार नहीं मिला है, मैं ही जाकर उनसे कहूँ और यह कहूँ कि पंद्रह दिनसे उत्सव हो रहा है और तुमसे छिपाया गया है। इत्यादि वचनोंसे उन्हें अपने वशमें करके दो थाती वरदानोंद्वारा राज्यभङ्ग करा दूँ।—यह सब गँव है। विशेष प्रकृतिचित्रणमें देखिये।

टिप्पणी—५ *'जिमि गँव तकइ'* इति। किरातिनी यदि गँवसे मधु न ले तो मक्खियोंसे मधु न ले सके, मक्खियाँ उसे मार ही डालें, वैसे ही मन्थरा यदि गँवसे अर्थात् अवसर देख करके राज्यभङ्ग न करे, तो अवधवासियोंसे राज्यभङ्ग न करने पावे, वे उसे मार ही डालें। इसीसे गँव ताकती है। (वि० टी० कार लिखते हैं कि गोस्वामीजी अयोध्याके राज्यकी मधुके छत्तेसे तुलना इसलिये करते हैं कि राज्यका पाना विघ्नादिसे बचाकर, सावधान रक्षकोंसे छुड़ाकर, बड़ी कठिनाईसे होता है, प्राप्त होनेपर फल सुखदायी होता है) यहाँ 'उदाहरण' अलङ्कार है।

नोट २— कैकेयीको किरातिनी कहा, सो ठीक है। किन्तु मन्थराको 'किराती' कहनेका क्या कारण है? सम्भवतः इससे कि अपने पुरुषार्थसे कैकेयीको वशमें करके अपना मनोरथ सिद्ध करेगी।

मानस-मयंककार—जैसे किरातिनी, वृक्षपर मधुके छत्तेको लगा हुआ देखकर, लग्गी लगाकर रस निकाल लेती है और मक्खियाँ व्याकुल हो जाती हैं, वैसे ही मन्थरा किरातिनीने राजारूपी तरुपर राजतिलक समाजरूपी छत्तेको कैकेयीरूपी लग्गीसे खोदकर शहदरूपी राजसुखको ले लिया और मधुमक्खी-समान अवधवासी

व्याकुल हो गये, यथा—*'तन कृस मन दुख बदन मलीने। बिकल मनहुँ माखी मधु छीने॥'* (मानसतत्त्व-बोधमें इसीको यों कहा है—*'भूप वृक्ष अरु राज मधु चेरि किरातिनि जानि। बाँस केकयी करि हरी प्रजन मँवर दुख मानि॥'*)

प्रकृति-चित्रण

प्रोफे० पं० रामचन्द्र शुक्ल (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)—स्त्रियोंकी प्रकृतिकी जैसी तद्रूप छाया इस काण्डमें हम देखते हैं, वैसी छायाके प्रदर्शनका प्रयत्नतक हम और किसी हिंदी कविमें नहीं पाते। नीची श्रेणीकी स्त्रियोंके सामने बहुत कम प्रकारके विषय आते हैं। पर मनुष्यका मन ऐसी वस्तु है कि अपनी प्रवृत्तिके अनुसार लगे रहनेके लिये उसे कुछ-न-कुछ चाहिये। वह खाली नहीं रह सकता। इससे वे अपने राग-द्वेषके अनेक आधार यों ही बिना कारण ढूँढ़कर खड़ा करती रहती हैं। यदि वे चार आदमियोंके बीच रख दी जायँ, तो हम बहुत थोड़े दिनोंमें देखेंगे कि कुछ तो उनके अनुरागके पात्र हो गये हैं और कुछ द्वेषके। मूर्ख स्त्रियोंकी यह विशेषता ध्यान देने योग्य है। अपने लिये राग और द्वेषका पात्र चुन लेनेपर वे अपने वाग्विलास और भाव-परिपाकके लिये सहयोगी ढूँढ़ती हैं? मन्थराका इसी अवस्थामें हम पहले-पहल दर्शन पाते हैं। न जाने उसे क्यों कौसल्या अच्छी नहीं लगती, कैकेयी लगती हैं। गोस्वामीजीने कारणका संकेत न देकर उसकी प्रवृत्तिको मूर्ख स्त्रियोंकी सामान्य प्रवृत्ति नारीचरितके अन्तर्गत रखा है। रामके अभिषेककी तैयारी देखकर वह कुढ़ जाती है और मुँह लटकाये कैकेयीके पास खड़ी होती है। कैकेयीको उसके अनुरागका पता चाहे रहा हो, पर अभीतक द्वेषका पता बिलकुल नहीं है। वह मुँह लटकानेका कारण पूछती है। तब—*'उतरु देइ नहिं'''छाँड़इ स्वास कारि जनु साँपिनि।'* उसकी इस मुद्रासे प्रकट होता है कि उसने अपने द्वेषका आभास इसके पहले कैकेयीको नहीं दिया था; यदि दिया भी रहा होगा, तो बहुत जल्दी उत्तर न देनेसे यह सूचित होता है कि जो बात वह कहना चाहती है, वह कैकेयीके लिये बिलकुल नयी है, अतः उसे सहसा नहीं कह सकती। किस ढंगसे कहे, यह सोचनेमें उसे कुछ काल लग जाता है। इसके अतिरिक्त किसीके सामने अबतक न प्रकट किये गये दुःखके वेगका भार भी दबाये हुए है। इतनेमें *'गाल बड़ तोरे'* इस वाक्यसे जीकी बात धीरे-धीरे बाहर करनेका एक रास्ता निकलता है। वह अपनी मुद्रा कायम रखती हुई कहती है—*'कत सिख देइ''''''* 'किसका बल पाकर गाल करूँगी?' इसका मतलब यही है कि मुझे एक तुम्हारा ही बल ठहरा—मैं तुम्हें चाहती हूँ और तुम मुझे चाहती हो—सो मैं देखती हूँ कि तुम्हारी यहाँ कोई गिनती ही नहीं है। क्रोध, द्वेष आदिके उद्गारके इस प्रकार क्रम-क्रमसे निकालनेकी पटुता स्त्रियोंमें स्वाभाविक होती है; क्योंकि पुरुषोंके दबावमें रहनेके कारण तथा अधिक लज्जा, संकोचके कारण ऐसे भावोंके वेगको एकबारगी निकालनेका अवसर उन्हें कम मिलता है।

रानी पूछती है कि 'सब लोग कुशलसे तो हैं?' इसका उत्तर फिर उसी प्रणालीका अनुसरण करती हुई वह देती है—*'रामहिं छाँड़ि''''''देखत गरब रहत उर नाहिंन।'*

किसीको क्रमशः अपनी भाव-पद्धतिपर लाना, थोड़ा-बहुत जिसे कुछ भी बात करना आता है, उसे भी आता है। जिस प्रकार अपनी विचारपद्धतिपर लानेके लिये क्रमशः प्रमाणपर प्रमाण देते जानेकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार क्रमशः किसीके हृदयको किसी भावपद्धतिपर लानेके लिये उसके अनुकूल मनोविकार उत्पन्न करते चलनेकी आवश्यकता होती है। रामके प्रति द्वेषभाव उत्पन्न करनेके लिये मन्थरा सपत्नीको सामने रखती है जिसके गर्व और अभिमानको न सह सकना स्त्रियोंमें स्वाभाविक होता है। सपत्नीके घमंडकी बात जीमें आनेपर कहाँतक ईर्ष्या न होगी? इस ईर्ष्याके साथ भरतके प्रति वात्सल्य भाव भी तो कुछ जगाना चाहिये। इस विचारसे फिर मन्थरा कहती है—*'पूत बिदेस''''''।'* इतना होनेपर भी राजाकी कुटिलताके निश्चयद्वारा जबतक राजाके प्रति कुछ क्रोध न उत्पन्न होगा, तबतक कैकेयीमें आवश्यक कठोरता और दृढ़ता कहाँसे आवेगी? कैकेयीके मनमें यह बात जम जानी चाहिये कि भरत जान-बूझकर हटा दिये गये हैं। इसके लिये ये वचन हैं—*'नींद बहुत''''''।'*

इसपर कैकेयी जब कुछ फटकारती है और बार-बार उसके खेदका कारण पूछती है, तब वह ऐसा खेद प्रकट करती है जैसा उसको होता है जो किसीसे उसके परमहितकी बात कहना चाहता है, पर वह उसे केवल तुच्छ या छोटा समझकर ध्यान ही नहीं देता। उसके वचन ठीक वे ही हैं जो ऐसे अवसरपर स्त्रियोंके मुखसे निकलते हैं—*'एकहि बार आस सब पूजी। बवा सो लुनिय लहिय जो दीन्हा।'*

मन्थरा अब अपने उस भाग्यको दोष दे रही है जिसके कारण वह ऐसी कुरूप हुई……। विश्वास न करनेवालेके सामने कुछ तटस्थ होकर अपने भाग्यको दोष देने लगना विश्वास उत्पन्न करनेका एक ऐसा ढंग है जिसे कुछ लोग विशेषतः स्त्रियाँ, स्वभावतः काममें लाती हैं। इससे श्रोताका ध्यान उसके खेदकी सचाईपर चला जाता है और फिर क्रमशः उसकी बातोंकी ओर आकर्षित होने लगता है। इस खेदकी व्यञ्जना प्रायः उदासीनताके द्वारा की जाती है; जैसे 'हमें क्या करना है? हमने आपके भलेके लिये कहा था। कुछ स्वभाव ही ऐसा पड़ गया है कि किसीका अहित देखा नहीं जाता।' मन्थराके कहे हुए खेद-व्यञ्जक उदासीनताके ये शब्द सुनते ही झगड़ा लगानेवाली स्त्रीका रूप सामने खड़ा हो जाता है—*'कोउ नृप होइ'''।'*

अब तो कैकेयीको विश्वास हो रहा है, यह देखते ही वह रामके अभिषेकसे होनेवाली कैकेयीकी दुर्दशाका चित्र खींचती है और यह भी कहती जाती है कि रामका तिलक होना मुझे अच्छा लगता है, रामसे मुझे कोई द्वेष नहीं है, पर आगे तुम्हारी क्या दशा होगी यही सोचकर मुझे व्याकुलता होती है; *'रामहिं तिलक कालि जो भयऊ'''तौ घर रहहु न आन उपाई।'*

इस भावी दृश्यकी कल्पनासे भला कौन स्त्री न क्षुब्ध होगी? किसी बातपर विश्वास करने या न करनेकी भी मनुष्यको रुचि नहीं होती है। जिस बातपर विश्वास करनेकी मनुष्यको रुचि नहीं होती, उसके प्रमाण आदि वह सुनता ही नहीं, सुनता भी है तो ग्रहण नहीं करता। मन्थराने पहले अपनी बातपर विश्वास करनेकी रुचि भिन्न-भिन्न मनोविकारोंके उद्दीपनद्वारा कैकेयीमें उत्पन्न की। जब यह रुचि उत्पन्न हो गयी, तब स्वभावतः कैकेयीका अन्तःकरण भी उसके समर्थनमें तत्पर हुआ—*'सुनु मंथरा बात फुर तोरी'''''।'*

इस प्रकार जो भावी दृश्य मनमें जम जाता है, उससे कैकेयीके हृदयमें घोर नैराश्य उत्पन्न होता है। वह कहती है—*'नैहर जनम भरब बरु जाई'''''।'*

इस दशामें मन्थरा उसे सँभालती है और कार्यमें तत्पर करनेके लिये आशा बँधाती हुई उत्साह उत्पन्न करती है—*'जेइ राउर'''''।'*

इस प्रसंगके चित्रणको देख यह समझा जा सकता है कि गोस्वामीजीने मानव-अन्तःकरणके कैसे-कैसे रहस्योंका उद्घाटन किया है। ऐसी गूढ़ उद्भावना बिना सूक्ष्म अन्तर्दृष्टिके नहीं हो सकती।

भरत मातु पहिं गइ बिलखानी। का अनमनि हसि कह हँसि रानी॥५॥
ऊतरु देइ न* लेइ उसासू। नारि चरित करि ढारइ आँसू॥६॥
हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे। दीन्ह लषन सिख अस मन मोरे॥७॥
तबहुँ न बोलि चेरि बड़ि पापिनि। छाड़इ स्वास कारि जनु साँपिनि॥८॥

शब्दार्थ—**बिलखानी**=मुँह लटकाये हुए, उदास। **अनमनि**=अन्यमनस्क=मनका कुछ औरका और हो जाना, उदास, सुस्त, उचटे हुए चित्तका मुँह बनाये हुए। **'हसि'**=है (तू)। **'उसासू'**=(उत्+श्वास) लम्बी साँस, ऊपरको चढ़ती हुई साँस, दुःख वा शोकसूचक श्वास, ऊर्ध्व श्वास। **ढारइ**=गिराती है। **गाल**=मुँहजोरी, बड़बड़ानेका स्वभाव, बकवाद करनेकी लत।— (श० सा०)। **'गाल बड़ तोरे'**—गाल बड़े होना मुहावरा है अर्थात् गर्व हो गया है।

* उतरु देइ नहिं—ना०प्र०।

अर्थ—वह भरतजीकी माँके पास उदास होकर गयी। रानीने हँसकर पूछा—क्यों उदास है (मुँह बनाये है)?॥ ५॥ वह कुछ उत्तर नहीं देती, लम्बी साँसें ले रही है और त्रियाचरित्र करके आँसू बहा रही है॥ ६॥ रानीने हँसकर कहा कि तेरे बड़े गाल हैं, मेरे मनमें ऐसा आता है कि लक्ष्मणने तुझे शिक्षा दी है (दण्ड दिया है)॥ ७॥ इतनेपर भी चेरी न बोली, बड़ी पापिनी है। ऐसा साँस छोड़ रही है मानो काली नागिन हो॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'भरत मातु पहिं'*.... इति। (क) पहले विचार करती रही, यथा—*'करइ बिचारु कुबुद्धि कुजाती॥'* जब विचार मनमें आ गया कि कैकेयीके पास जाऊँ, उसका पुत्र घरमें नहीं है, उससे जाकर कहूँ कि कौसल्या अपने पुत्रको राज्य दिलाये देती है, जिसमें वह अपने पुत्रके लिये राज्य माँग ले और रामको वन भेज दे।— यह भाव 'भरत-मातु' का है। [अथवा, *'भरत मातु'* कहा क्योंकि अभी कैकेयीका हृदय निर्मल है। (पं०)] (ख)—*'बिलखानी'* कहकर आगे *'का अनमनि हसि'* से उसका अर्थ 'अनमनि' स्पष्ट कर दिया।

टिप्पणी २—*'ऊतरु देइ न'*....' इति। (क) अर्थात् वचनसे अपना दुःख नहीं कहती, चेष्टासे दुःख सूचित करती है। (ख) *'नारि चरित करि'*....'—अर्थात् ये आँसू दुःखके नहीं हैं। वह यह स्त्री-चरित कर रही है। अनमनी हुई, लम्बी साँसें ले रही है, उत्तर नहीं देती है—यही स्त्री-चरित्र है। *ढारइ आँसू*—अर्थात् बड़े-बड़े और बहुत आँसू बहाती है, रोती है, अश्रुप्रवाह जोरोंसे चल रहा है। (ग) मन्थरा अपना दुःख तन, मन, वचनसे सूचित कर रही है। आँसू गिराना यह तनका दुःख है, लम्बी साँस लेती है, यह मनका दुःख है और मारे दुःखके वचनसे उत्तर नहीं देती यह वचनद्वारा दुःख जनाया। [उत्तर न देनेसे सूचित होता है कि जो बात वह कहना चाहती है, वह कैकेयीके लिये बिलकुल नयी है, अतः उसे सहसा नहीं कह सकती। कैसे कहे यह सोचनेमें कुछ समय लग जाता है। इसके अतिरिक्त किसीके सामने न प्रकट किये गये दुःखके वेगका भार भी दबाये हुए है। (शुक्लजी)]

टिप्पणी ३—*'हँसि कह रानि गाल'*....' इति। (क) भाव कि रानी मन्थरापर हँसीं कि तू बहुत बोलती है, इसीसे मारी गयी है। (ख) *'दीन्ह लषन सिख'*—इससे जान पड़ता है कि जो अनीतिपर चलता है, बेमर्यादा बोलता है, उसे लक्ष्मणजी दण्ड देते हैं। (आगे नोट भी देखिये)। *'अस मन मोरे'*—अर्थात् अनमनी होनेका और कुछ कारण नहीं है, लक्ष्मणजीने मारा है बस यही बात है।

नोट—*'दीन्ह लषन सिख'* इति। इस समय भरत-शत्रुघ्नजी तो हैं ही नहीं, भरतजी बहुत ही सुशील हैं और रामचन्द्रजीने तो कभी किसी शत्रुका भी अनभल नहीं किया। रहे लक्ष्मणजी सो इनका स्वभाव विलक्षण है। ये अन्याय और विशेषतः रामजीके प्रतिकूल किञ्चित् भी कोई बात नहीं सह सकते। जनकजी और परशुरामजीके प्रसङ्गमें यह बात कही जा चुकी है। और इस काण्डमें भी इनके क्रोधीस्वभावका परिचय मिलता है; अतः अनुमान किया कि इसने कुछ अण्ड-बण्ड बका होगा, उसीपर उन्होंने कुछ दण्ड दिया होगा।

'शिक्षा देना' मुहावरा है। दण्ड देना, पीटने इत्यादिके अर्थमें आता है।

टिप्पणी—४ *'तबहुँ न बोलि'*....' इति। (क) 'न बोलने' का भाव कि जैसे सर्पिणी प्रथम मर्म स्थान देखती है तब काटती है, क्योंकि मर्मस्थानपर डसनेसे मनुष्य जीता नहीं रहता। वैसे ही मन्थरा केकयीका मर्मस्थान देखती है। वह विचार करती है कि अभी बोल देनेसे यह मेरा वचन न मानेगी, अभी तो वह हँस-हँसकर बोल रही है, यथा—*'का अनमनि हसि कह हँसि रानी'*, *'हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे॥'* जब हमारी दशा देखकर रानीके हृदयमें भय उत्पन्न हो, वह भयभीत हो जाय, तब बोलनेसे काम होगा, अतः अभी न बोलूँगी। (ख)*'चेरि बड़ि पापिनि।'*—मन्थराको रानीका अपयश न कराना चाहिये कि जो मरणके समान है, यथा—*'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम'*....।' (९५। ७) किसीका भी अपकार करना पाप है और अपने ही स्वामीका अपकार करना तो बड़ा भारी पाप है। अतएव उसे

'*बड़ि पापिनि*' कहा। [पराया कार्य बिगाड़े सो पापी और जो अपने अन्नदाता स्वामीका काम बिगाड़े वह 'बड़ा पापी' है। (प्र० सं०)] (ग) '*छाड़इ स्वास*····'—पापका रङ्ग और स्वरूप काला है, इसीसे पापिनी मन्थराको काली नागिनकी उपमा दी। [मन्थरा सर्पिणी राजा और केकयीको डसेगी। केकयीका अपयश होना यही उसका डसा जाना और मरना है। सर्पोंमें काले नाग अधिक विषैले होते हैं और नागसे नागिनका विष अधिक तीक्ष्ण होता है। पुनः, मन्थरा स्त्री है इससे नागिनकी उपमा दी। (घ) नागिनकी फुफकारसे घरवाले भयभीत हो जाते हैं वैसे ही केकयी भयभीत हो गयी, यथा—'*सभय रानि कह कहसि*····।' (ङ) 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षालङ्कार' है]।

दो०—सभय रानि कह कहसि किन कुसल रामु महिपालु।
लषनु भरत रिपुदमनु सुनि भा कुबरी उर सालु॥१३॥

शब्दार्थ—**सालु**=शूल, दुःख, पीड़ा, कसक। **रिपुदमनु**=शत्रुघ्न। **कुबरी**=जिसके कूबड़ निकला है, कुबरी, मन्थरा।

अर्थ—रानी डरकर कहने लगीं—अरी बोलती क्यों नहीं? (अपने दुःखका कारण क्यों नहीं कहती?) राम, राजा, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न कुशलसे तो हैं? कुशल क्यों नहीं कहती? यह सुनकर कुबड़ीके हृदयमें बड़ी ही पीड़ा हुई॥१३॥

टिप्पणी—१ (क) '*सभय रानि*'—मन्थराको काली नागिनकी उत्प्रेक्षा की। काली नागिनकी फुफकारसे भय उत्पन्न होता ही है अतः रानीका सभीत होना कहा (उसके मौनसे रानी डर गयीं कि कहीं कोई विशेष दुर्घटना तो नहीं हो गयी)। (ख)—'*कुसल रामु*·····' इति। केकयीजीको श्रीरामजी बहुत प्रिय हैं, अतः उन्होंने उनकी कुशल प्रथम पूछी। इसीसे कुबड़ीके हृदयमें शाल हुआ (वह तो श्रीरामचन्द्रजीसे और केकयीसे अनबन कराना चाहती है और केकयीजी इन्हींका नाम प्रथम लेकर कुशल पूछ रही हैं। फिर मन्थरा तो दशरथ महाराजके प्रतिकूल होकर आयी है, उनके विरुद्ध भी वह केकयीको उभाड़ना चाहती है और रानी रामके पश्चात् प्रथम उन्हींका कुशल पूछती है। दोनोंसे इसको वैर बेसाहना है और यह उन्हीं दोनोंका नाम प्रथम ले रही है। अतः उसको शाल हुआ। (ग) यहाँ दूसरा 'समुच्चय अलङ्कार' है)।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—रानीने प्रथम रामजीका ही कुशल पूछा, चक्रवर्तीजीका उसके बाद। तत्पश्चात् लक्ष्मणजीका, तब भरतका। इससे उसे रानीके हृदयका पता चल गया कि इनका सर्वाधिक स्नेह श्रीरामजीपर है। कार्य-सिद्धि अति कठिन समझकर उसके हृदयमें शाल हुआ। ऊपरका श्वास ऊपर ही रह गया।

कत सिख देइ हमहिं कोउ माई। गाल करब केहि कर बलु पाई॥१॥
रामहि छाड़ि कुसल केहि आजू। जेहि* जनेसु देइ जुबराजू॥२॥
भयउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन। देखत गरब रहत उर नाहिन॥३॥

शब्दार्थ—**कत**=क्यों, किस लिये। **सिख देइ**=शिक्षा (दण्ड) देगा। **गाल करना**=मुँहजोरी करना, बोलनेमें शङ्का-सङ्कोच न करना, अण्डबण्ड बकना, गर्व करना। **जनेसु** (जन+ईश)=राजा। **दाहिन भयउ**=सीधा वा अनुकूल हुआ है, दाहिना होना मुहावरा है अर्थात् उनके दिन अच्छे हैं। **गरब**=गर्व, घमण्ड।

अर्थ—(मन्थरा बोली) हे माई। हमें कोई क्यों शिक्षा देगा? मैं किसका बल पाकर गाल करूँगी?॥१॥ रामको छोड़ आज और किसकी कुशल है कि जिन्हें राजा युवराजपद दे रहे हैं॥२॥ (अब तो) कौसल्याजीको विधाता अत्यन्त दाहिने हुए हैं, देखकर गर्व उनके हृदयमें नहीं समाता। अथवा, उन्हें देखकर किसीके हृदयमें गर्व नहीं रह जाता ॥३॥

नोट—१ '*कत सिख देइ*····' इति। (क) कैकेयीजीके '*गाल बड़ तोरे*' इस वाक्यसे जीकी बात धीरे-

* 'जेहि'—(राजापुर)। जिनहि-का० रा०, ना० प्र०, वीर। 'जे' का दीर्घ उच्चारण करनेसे पाठ ठीक बैठ जाता है। छन्दोभङ्ग है नहीं। छन्दोभङ्गके विचारसे सम्भवतः 'जेहि' की जगह 'जिनहिं' कर दिया गया हो।

धीरे बाहर करनेका रास्ता मिला। वह अपनी मुद्रा कायम रखती हुई कहती है—'*कत*……।' (ख) कोई हमें दण्ड क्यों देगा? अर्थात् मैं किसीसे 'गाल' कर ही नहीं सकती, तब मारी क्यों जाने लगी। 'गाल न करने' का कारण आगे कहती है—'*गाल करब केहि कर बलु पाई।*' ☞ क्रोध, द्वेष आदिके उद्गार इसी प्रकार क्रम-क्रमसे निकाले जाते हैं। (ग) '*माई*' का भाव कि तुम माताकी तरह मेरा पालन-पोषण-रक्षण करती थीं, मेरा पक्ष लेती थीं; अतः तुम्हारे बलपर चाहे मैं कभी किसीको कुछ कह भी डालती थी। और किसीका क्या मैं कुछ खाती-पीती थी? (घ) '*गाल करब केहि कर बल पाई*'— किसके बलपर मुँहजोरी अथवा किसीसे बातें करूँगी? इसमें ध्वनि यह है कि अबतक तुम्हारा बल था, सो तुम तो अब किसी गिनतीमें नहीं हो, तुम तो स्वयं मेरी तरह दासी हुआ ही चाहती हो। मन्थरा अभी स्पष्ट नहीं कहती, क्योंकि अभी वह रानीका रुख अपने अनुकूल नहीं देखती। (ङ) अब '*कत सिख*……' का भाव यह निकला कि जब हमें किसीका बल ही नहीं है तब हम न तो किसीसे बातें ही करेंगी; न मारी ही जायेंगी; तब हमें लक्ष्मणजी क्यों शिक्षा देने लगे? [जब किसीको जानती-समझती कि यह मेरा पक्ष लेगा तब कुछ कह सकूँगी, तभी गाल करूँ। (पु० रा० कु०) इन वाक्योंसे मन्थरा रानीमें ईर्ष्या उत्पन्न करना चाहती है। (रा० प्र०) यह '*दीन्ह लषन सिख*' का उत्तर है।]

नोट २—'*रामहि छाड़ि कुसल केहि आजू*……' इति। यह '*कहसि किन' कुसल राम महिपाल*' का उत्तर है। कैसा जलाभुना हुआ उत्तर है। वचनोंमें व्यङ्गसे भरतका अकुशल जनाती है। इसे आगे स्पष्ट कहेगी, यथा—'*भरत बंदि गृह*……।' इन वचनोंमें आर्थी व्यङ्ग है; क्योंकि मन्थरा इनसे राज्याभिषेकमें विघ्न करनेकी क्रियाको छिपा रही है। (ख) '*जेहि जनेसु देइ*……'—भाव कि राजाके देनेसे युवराज्य मिलता है, यथा—'*बेद बिदित संमत सब ही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका॥*' (१७५। ३) तथा जिसे जन-समुदाय चाहे उसीको राज्य मिलता है, यथा—'*जौं पाँचहि मत लागै नीका। करहु हरषि हिय रामहिं टीका॥*'

टिप्पणी—१ '*भयउ कौसिलहि*……' इति। (क) '*अति दाहिन*' का भाव कि विधाता कौसल्याजीको दाहिने तो पूर्व ही थे कि प्रथम तो उन्हें ज्येष्ठ पटरानी बनाया, फिर उन्हें राम ऐसा पुत्र दिया, इतना ही नहीं किंतु रामको ही सब पुत्रोंमें ज्येष्ठ पुत्र बनाया। और अब उनके पुत्रको युवराज्य दे रहे हैं, यही उनका 'अति दाहिने' होना है। कौसल्याजीको '*अति दाहिन*' कहकर कैकेयीपर विधाताकी वामता (प्रतिकूल होनेका भाव) जनाती है। आगे स्पष्ट कहेगी, यथा—'*रामहि तिलक कालि जौं भयऊ। तुम्ह कहुँ बिपति बीजु बिधि बयऊ॥*' (१९। ६) (ख) '*देखत गरब रहत उर नाहिंन*'—अर्थात् कौसल्याजीको देखते ही दूसरेके हृदयमें गर्व नहीं रह जाता। पुनः भाव कि कैकेयीके उरमें बड़ा गर्व था, यथा—'*गरबित भरतमातु बल पीके।*' (१८। ३) उसीपर लक्ष्य करके सूचित करती है कि कौसल्याको देखते ही तुम्हारा गर्व न रह जायगा। [(प्र० सं०)—कौसल्याको विधाता '*अति दाहिन*' हैं अतः अब कौसल्याजीका क्या कहना? उनके मनमें घमण्ड नहीं अमाता। जैसे अभीतक तुम्हें गर्व था, यथा—'*गरबित भरतमातु बल पीके*', वैसे ही अब उनको गर्व है। उनका गर्व इतना अधिक है कि प्रत्यक्ष देख पड़ता है। '*देखत*'—अर्थात् विधाताको ऐसा अनुकूल देखकर; भाव कि राज्याभिषेककी तैयारी देखकर। अथवा, कौसल्याको देखते ही किसीके हृदयमें विधिकी दाहिनता (अनुकूलता) का अहङ्कार नहीं रहने पाता। (रा० प्र०, प्र० सं०)]

नोट ३—स्त्रियोंका सहज स्वभाव है कि वे अपनी सवत (सपत्नी) का गर्व, उत्कृष्टता वा अभिमान नहीं सह सकतीं। अतः कैकेयीको अपने ढंगपर लानेके लिये और रामके प्रति द्वेषभाव उत्पन्न करनेके लिये मन्थरा 'सवत' को सामने रखकर अपना घात लगाना चाहती है और इसीसे सफल भी होगी। सपत्नीके घमण्डकी बात जीमें आनेपर कहाँतक ईर्ष्या न होगी।

देखहु कस न जाइ सब सोभा। जो अवलोकि मोर मनु छोभा॥ ४॥
पूत बिदेस न सोच तुम्हारे। जानति हहु बस नाह हमारे॥ ५॥
नींद बहुत प्रिय सेज तुराई। लखहु न भूप कपट चतुराई॥ ६॥

शब्दार्थ—**छोभा**=क्षुब्ध हुआ, दुःखित हुआ। **बिदेस**=दूसरे देशमें, परदेश, बाहर। **सेज**=(शय्या), पलँग। **तुराई**=(तूल=रूई+आई) रूईभरी वस्तु, तोशक, रजाई, दुलाई। 'लखना'—यह शब्द प्रान्तिक है, पद्यहीमें प्रयुक्त होता है। यह सं० लक्षका अपभ्रंश है। इसका भावार्थ है 'ताड़ जाना, भाँप लेना, लक्षणसे अनुमान करना।'

अर्थ—(नगर आदिकी) सब शोभा क्यों नहीं जाकर देख लेतीं, जिसे देखकर मेरा मन क्षुब्ध हो गया॥ ४॥ (तुम्हारा) पुत्र तो परदेशमें है, तुम्हें कुछ सोच नहीं, जानती हो कि राजा (पति) हमारे वशमें हैं॥ ५॥ तुम्हें तो पलँग और तोशकपर सोना बहुत प्रिय है। राजाकी कपटपूर्ण चतुराईको नहीं भाँप पातीं॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'देखहु कस न जाइ······'* इति। (क) अर्थात् मेरी बातका विश्वास नहीं मानतीं तो स्वयं जाकर क्यों नहीं देख लेतीं? तिलककी तैयारी देखकर मेरा मन क्षुब्ध हो गया, तुम देख लोगी तो तुम्हारा भी मन क्षुब्ध हो जायगा। फिर विशेष कुछ समझानेकी आवश्यकता न पड़ेगी। पुनः भाव कि अभीतक मुझे तुम्हारी शोभाके आगे किसीकी शोभा कुछ न देख पड़ती थी, इससे पूर्व मुझे दुःख न हुआ था, पर आज देखकर दुःख हुआ। आशय यह है कि आज उनकी शोभा तुम्हारी शोभासे अधिक है। (ख) *'सब सोभा'*—अर्थात् कौसल्याजीकी शोभा, तिलकसामग्रीकी शोभा और नगरकी शोभा; इत्यादि। (ग) *'मन छोभा'*, यथा—*'पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू। रामतिलक सुनि भा उर दाहू॥'* (१३। २), **'रामं दशरथो राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति॥ सास्म्यगाधे भये मग्ना दुःखशोकसमन्विता ॥'** (वाल्मी० २। ७। २०-२१)] (घ) स्त्रीको पुत्र और पति दोनोंका आधार है अतः दोनोंका निराकरण करती है कि *'पूत बिदेस'* और *'जानति हहु बस नाह हमारे।'*

नोट—१ *'पूत बिदेस·····'* इति। (क) ईर्ष्या उत्पन्न करनेके लिये सपत्नीको सामने रखा। पर कैकेयीका प्रेम राम और राजापर है, यह *'कुसल राम महिपाल'* से स्पष्ट समझ गयी है, अतः भरतके प्रति वात्सल्य-भाव भी तो कुछ जगाना और राजाकी कुटिलताका निश्चय कराना चाहिये। अतः कहती है—*'पूत बिदेस······।'* (शुक्लजी) (ख) *'पूत बिदेस न सोच तुम्हारे'*—भाव कि बेटा परदेशमें है, उसका सोच महाराजको नहीं है, पर तुमको तो होना चाहिये। तुम तो माँ हो और वही तुम्हारा इकलौता बेटा है। सो तुम अपने सुखसे सुखी हो। समझती हो कि राजा मेरे वशमें हैं। भाव कि यहाँ क्या षड्यन्त्र चल रहा है, इसका तुम्हें पता नहीं है, राजाका प्रेम तुमपर दिखावामात्र है और तुम इसे लख नहीं रही हो। (वि० त्रि०) *'पूत बिदेस·····'* कहकर *'जानति हहु···'* कहनेका भाव कि राजा तुम्हारे वशमें नहीं हैं, कौसल्याके वशमें हैं और उन्हींकी सलाहसे पुत्र परदेशमें भेजा गया है। यही आगे कहेगी। यथा—*'राम मातु मत जानब रउरें।'* (१८। २) *'रचि प्रपंच भूपहि अपनाई।'* (१८। ६) (पं० रा० कु०) (ग) *'न सोच तुम्हारे'* का कारण कहती है कि *'जानति हहु बस नाह हमारे'*, आगे भी कहेगी कि *'तुम्हहि न सोचु सुहाग बल निज बस जानहु राउ॥'* (१७) (पु० रा० कु०) *'जानति हहु·····'*— भाव कि तुम अपने मनमें ऐसा समझती भर हो, पर वास्तवमें ऐसी बात है नहीं। वे तो कौसल्याके वशमें हैं तभी तो कौसल्याने *'भूपहि अपनाई। राम तिलक हित लगन धराई॥'* (१८। ६) यह भी भाव है कि तुम्हें जो पतिप्रिया होनेका गर्व है वह झूठा ही है।

नोट २—सवतिके गर्वकी बात सुनकर ईर्ष्या तो अवश्य उपजेगी, पर यह रामजीको अवधसे निकालनेके लिये पर्याप्त न होगी जबतक राजामें कैकेयीकी ओरसे कपट न सिद्ध करेगी। अतः *'पूत बिदेस न सोच तुम्हारे······।'* कहकर वह रानीके जीमें यह दृढ़ निश्चय कराना चाहती है कि राजाने तुम्हारी सपत्नीसे सलाह करके तुम्हारे पुत्रको जान-बूझकर यहाँसे हटा दिया है, न वह होंगे न कोई झगड़ा-बखेड़ा खड़ा होगा। इन वचनोंसे दशरथ-कौसल्याके प्रति क्रोध और ईर्ष्या उत्पन्न करनेके साथ ही पुत्रमें वात्सल्यभाव भी जगा रही है। इससे ईर्ष्या और क्रोधमें दृढ़ता आवेगी।

टिप्पणी—२ *'नींद बहुत·····'* इति। (क) प्रथम कहा कि तुम्हें सोच नहीं है; कि पुत्र विदेशमें है इसीसे

अब कहती है कि तुमको नींद बहुत आती है। भाव कि सोचमें नींद नहीं आती, तुम्हें सोच होता तो नींद न पड़ती। 'नींद बहुत' कहकर प्रमाद सूचित किया। अर्थात् तुम्हारी सपत्नी (सवत) तो तुम्हारी जड़ उखाड़ना चाहती है और तुम्हें खबर भी नहीं, तुम पड़े-पड़े सोया ही करती हो। ऐसा ही शूर्पणखाने रावणसे कहा है, यथा—'*करसि पान सोवसि दिन राती। सुधि नहिं तव सिर पर आराती॥*' (३। २१) (ख) नींद बहुत आती है, इसका एक कारण सोच न होना कहकर अब दूसरा कारण कहती है कि सेज तुराई बहुत प्रिय है। कोमल बिछौना, तोशक, तकिया सेजमें नींद बहुत आती ही है। 'बहुत' देहली-दीपक है'? (ग) '*लखहु न भूप कपट चतुराई*'—इसीको आगे खोलकर कहेगी। यथा—'*मन मलीन मुँह मीठ नृपु राउर सरल सुभाउ।*' (१७) भाव कि सीधी-सादी भोली-भाली हो। राजा मनके कपटी हैं, ऊपरसे तुम्हें अपनी मीठी-मीठी मुँह-चुपड़ी बातोंमें लुभाये रखते हैं और वशमें तो कौसल्याजीके ही हैं।

नोट—३ '*नींद बहुत प्रिय सेज*'''' 'से यह भी सूचित होता है कि जब मन्थरा कैकेयीजीके पास गयी उस समय या तो वह सो रही थी या पलंगपर लेटी थी। वाल्मीकीयमें सोती हुई और अ० रा० में पलंगपर बैठी हुई कैकेयीको सम्बोधित किया है। यथा—'**शयानामेव कैकेयीमिदं वचनमब्रवीत्।**' (वाल्मी० २। ७। १३) '**उत्तिष्ठ मूढे किं शेषे भयं त्वामभिवर्तते**''''।' '**पर्यङ्कस्थां विशालाक्षीमेकान्ते पर्यवस्थिताम्। किं शेषे दुर्भगे मूढे महद्भयमुपस्थितम्॥**' (अ० रा० २। २। ५२)

नोट—४ मन्थरा कैकेयीको अपनी राहपर लानेके लिये यह झूठ बना-बनाकर कह रही है। विवाहके एक दिन पूर्व ही भरतजीके मामा युधाजित्जी उनको लेनेके लिये जनकपुर आये थे। विवाहके पश्चात् चक्रवर्ती महाराजसे उनको साथ भेजनेके लिये बड़ा आग्रह करनेपर राजाने भेजा था। यह वाल्मी० १। ७३। १—६, १। ७७। १६—१९ से स्पष्ट है। सब माताओंसे आज्ञा लेकर भरतजी गये थे। इसमें कैकेयीकी भी सम्मति थी, यह मन्थराके वचनोंसे प्रकट है जो वाल्मीकिजीने लिखा है—'**बाल एव तु मातुल्यं भरतो नायितस्त्वया।**' (२। ८। २८) अर्थात् बाल्यावस्थामें ही तुमने भरतको मामाके घर भेज दिया, यह बुरा किया। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि राजाका भरतजीपर इतना स्नेह था कि राम-लक्ष्मणके रहते हुए भी वे भरतजीकी याद बहुत करते थे। यथा—'**राजापि तौ महातेजाः सस्मार प्रोषितौ सुतौ। उभौ भरतशत्रुघ्नौ महेन्द्रवरुणोपमौ॥**' (२। १। ४)

सुनि प्रिय बचन मलिन मन जानी। झुकी रानि अब रहु अरगानी॥७॥
पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी। तब धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी॥८॥
दो०—काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि।
तिय बिसेषि पुनि चेरि कहि भरतमातु मुसुकानि॥१४॥

शब्दार्थ—**झुकी**—किसीकी बातपर क्रोध आनेपर प्रायः देखा जाता है कि उसे डाँटने या चुप करनेके वचन कहते हुए क्रोध करनेवाला उसकी ओर बढ़ता, झुकता या अँगुलीसे इशारा करके कहता है कि बस चुप रह, दूर हो, यही भाव इसमें है। अतः झुक पड़ना=क्रुद्ध होना। झुकना=रुजू वा मुखातिब होना, उतारू होना, डाँटना—(पं० रामगुलामजी द्विवेदी) **अरगानी**=चुप, दूर, अलग। यथा—'*अस कहि राम रहे अरगाई*', '*तहँ राखइ जननी अरगाई*'। '**घरफोरी**=घरमें फूट डालने अर्थात् बिगाड़ करानेवाली, घर फोड़नेवाली। '**कढ़ावउँ**=खिंचवा लूँगी। काना=एक आँख जिसकी न हो। 'खोरा' (सं० खोर)=दोषयुक्त—(रा० कु०)। **जानि**=जानना चाहिये, जाने माने गये हैं, जानो।

अर्थ—मन्थराके प्रिय वचन सुनकर उसको मनकी मलिन जानकर रानी उसे डाँटने लगी कि बस अब चुप रह (खबरदार फिर ऐसा न कहना)॥७॥ अरी घरफोड़नी! फिर कभी ऐसा कहा तो तेरी जीभ पकड़कर निकलवा लूँगी॥८॥ काने, लँगड़े और कुबड़े कुटिल और कुचाली जाने गये हैं, उनमें भी खासकर स्त्री और फिर दासी! इतना कह भरतकी माता मुसकरा दीं॥१४॥

नोट—१ 'प्रिय' यहाँ 'वचन' का विशेषण है। रामराज्याभिषेकके वचन हैं इससे प्रिय कहा; क्योंकि कैकेयीजी राजासे इसके लिये कई बार कह चुकी थीं। यथा—*'भामिनि भएउ तोर मन भावा।'* वाल्मीकीय और अध्यात्मसे भी 'प्रिय' वचनका ही विशेषण सिद्ध होता है। '**इदं तु मन्थरे मह्यमाख्यातं परमं प्रियम्। एतन्मे प्रियमाख्यातं किं वा भूयः करोमि ते॥**......' (वाल्मी० २। ७। ३४) अर्थात् हे मन्थरे! तूने मुझे परमप्रिय संवाद सुनाया, इस प्रिय संवादके बदलेमें मैं तेरा क्या उपकार करूँ? इस संवादसे बढ़कर मुझे कुछ और प्रिय नहीं, ऐसे अमृतसमान वचन सभी नहीं सुना सकते। यथा—'**न मे परं किंचिदितो वरं पुनः प्रियं प्रियार्हे सुवचं वचोऽमृतम्।**' (वाल्मी० २। ७। ३६) आगे भी कहा है—*'प्रियबादिनि सिख दीन्हिउँ तोहीं' 'राम तिलक जो साँचेहु काली......देउँ माँगु॥'*

टिप्पणी—१ *'सुनि प्रिय बचन......'* इति। (क) *'जेहि जनेसु देइ जुबराजू'* यह प्रिय वचन है। *'जो अवलोकि मोर मन छोभा'* इससे *'मलिन मन'* जाना। ☞ इस दोहेभरमें मन्थराके वचन ऊपरसे प्रिय हैं। आपाततः उनमें कैकेयीके हितकी बात दीखती है; किंतु वस्तुतः हितकी है नहीं, केवल हित सूझ पड़नेवाले वचन हैं। इन वचनोंके अभिप्रायसे वह कौसल्याका वैर, राजाका कपट और रामराज्यसे कैकेयीका अनहित दर्शित करती है। इस अभिप्रायको समझकर रानीने मन्थराको मलिन-मन जाना। मन्थराने स्पष्ट नहीं कहा किंतु इस तरह कहा कि उसके वचनोंमें उसका अभिप्राय झलक आवे । कारण कि वह रानीका रुख देख रही है, रुख पावे तो खोलकर कह दे। आगे रुख पानेपर खोलकर कहेगी। (मन्थराके वचन घरमें फूट डालनेवाले हैं, अतः *'मलिनमन'* जाना) (ख)—*'झुकी'* अर्थात् कोपकी चेष्टा करके बोली।

टिप्पणी—२*'पुनि अस कबहुँ कहसि......'* इति। (क) 'घरफोरी' सम्बोधन है। तभी तो मन्थराने कहा है कि *'धरेउ मोर घरफोरी नाऊँ।'* (१७। ३) सम्बोधन होनेसे ही नाम रखना निश्चित हुआ। *'पुनि'* का भाव कि इस बार तो घर फोड़नेवाली बात कहनेपर मैं क्षमा किये देती हूँ, अब कभी न कहना। यदि फिर कही तो दण्ड मिलेगा। (ख) *'तब धरि जीभ......'*—जो घर फोड़नेवाली बात करे, बिगाड़ करानेमें लगा रहे, उसकी जिह्वा काट लेनी चाहिये और 'तू तो रामजीके अहितकी बात कहती है अतएव तुझे तो कभी भी क्षमा न करना चाहिये, तेरी तो जीभ उखाड़ लेनी चाहिये। सत्योपाख्यानमें मन्थरासे कैकेयीजीने ऐसा ही कहा है यथा—'**यदि रामस्य राज्यं च यौवने च भविष्यति। तदा वयं निरुत्साहाश्चेदिकास्ते भवेमहि। निशम्य वाक्यं कुब्जायाः कैकेयी च स्मितानना॥......कर्मणा त्वां च जानामि दैत्यकन्यां च मन्थरे। ईदृशी यदि रामे च बुद्धिस्तव समागता। जिह्वायाश्छेदनं चैव कर्त्तव्यं तव पापिनी॥ नेत्रयोः पातनं चैव नासिकाया विशेषतः। अयं पापसमूहस्ते वक्ररूपेण वर्तते॥**' (पू० अ० ८। २८—३२) अर्थात् कुब्जाने कहा कि रामराज्याभिषेक हो गया तो आप ही हम सब दासियाँ निरुत्साह हो जायँगी। यह सुनकर कैकेयी हँसकर बोली कि तेरे इन कर्मोंसे जान पड़ता है कि तू किसी दैत्यकी कन्या है। रामके विषयमें तेरी ऐसी बुद्धि है तब तो तेरी जिह्वा ही निकाल लेनी चाहिये और ऐसी स्त्रीकी नाक भी काट लेनी चाहिये। जान पड़ता है कि तेरा कूबड़ नहीं है यह पापका भण्डारघर है। पुनश्च यथा—*'काटिय तासु जीभ जो बसाई।'* (१। ६४) व्यवहारमें यदि कोई घर फोड़नेवाली बात कहे तो उसकी जीभ निकाल ले, यह दण्ड मिताक्षरामें कहा है।

श्रीमन्त शंकरयादवजी—इस संवादकी मन्थरा ठीक वैसी ही कुटिल स्त्री है जिसका वर्णन '**मुखं पद्मदलाकारं वाचश्चामृतशीतलाः। हृदयं क्षुरधाराभं स्त्रीणां को वेद चेष्टितम्॥**' इस श्लोकमें किया गया है। अध्यात्म अथवा वाल्मीकिकी मन्थरामें इतनी मार्मिकता नहीं है। गोसाईंजीको एक 'घरफोरी' यानी दूसरेके घरको चकनाचूर कर डालनेवाली मन्थरा दिखलानी थी और इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने उसे ठीक वैसी ही दिखलायी भी है। उसकी मुद्रा, भाषणशैली, तर्क आदि सभी उत्तरोत्तर कैसे बढ़ते गये, यह देखनेयोग्य है। केवल एक कैकेयीको गोस्वामीजीने बिलकुल अध्यात्मरामायणके अनुसार रखा है।

इन वर्णनोंसे कहना ही पड़ता है कि गोसाईंजीकी चरित्राङ्कनकी शैली अपूर्व है। ऐसी अपूर्वता आनेका कारण विशेषतः उनकी तीक्ष्णस्वभाव-निरीक्षण-शक्ति ही है। (मा० हं०)

टिप्पणी ३—*'काने खोरे'''* इति। (क) *काने* (एक आँखके), *खोरे* अर्थात् जो तीन दोष शरीरमें कहे गये हैं उनसे युक्त, कुबड़े, कुटिल अर्थात् देहसे टेढ़े—ये सब कुचाली होते हैं। *'तिय बिसेषि'* अर्थात् स्त्री विशेष कुचाली होती है। *'पुनि चेरि'* अर्थात यदि चेरी (दासी) में ये दोष हों तो वह सबसे अधिक कुचाली होती है, ऐसा हृदयमें जानकर और मुखसे कहकर केकयी मुसकुरा दीं। (ख)—कठोर वचन कहकर पीछे हँस देना अपने क्रोधकी शिथिलता प्रकट करता है, इससे जनाया कि मैंने तुमपर क्रोध नहीं किया है, इससे क्रोध न समझ लेना। पुनः, मुसकाकर जनाया कि ये सब दोष तुझमें हैं तब तू कुचाली कैसे न हो। कुटिल अन्त:करणकी और कुचाली बाहर (आचरण) की। [*'तिय बिसेषि पुनि चेरि'*—भाव यह कि पुरुषोंमें ये दोष हों तो वे कुटिल कुचाली होते हैं। पर, यदि ये दोष स्त्रीमें हुए तो उसमें ये दोनों अवगुण और भी अधिक होते हैं और यदि वह दासी भी हुई तो फिर उसकी कुटिलता और कुचालका तो कहना ही क्या? श्रीरामजीके प्रतिकूल वचन कहनेवालीको अनेक दोष लगाकर लज्जित करती है। अत: *'भरतमातु'* शब्द दिया। अभी उसका हृदय सुहृद् है। (प्र० सं०)]

मानसहंस—'मय-सभामें दुर्योधनकी फजीहत देखकर द्रौपदी हँस पड़ी थीं। इस हँस पड़नेका परिणाम भारतीययुद्ध और कौरवोंका नाश हुआ। अर्थात् द्रौपदीके हँसनेपर सारा महाभारत निर्माण हुआ। यही कल्पना लेकर गोसाईंजीने कैकेयीको हँसाया और उसपर सारी रामायणका निर्माण किया। **'योजकस्तत्र दुर्लभः'** कहा है सो व्यर्थ नहीं।'

नोट २—*'हँसा सो फँसा'* यह कहावत है। इसका हँसना ही दासीके जालमें फँसनेका श्रीगणेश हुआ।

अलङ्कार—कोई एक भी कारण पर्याप्त होते हुए भी कई हेतु यहाँ कहे गये। अत: यहाँ दूसरा 'समुच्चय अलङ्कार' है।

प्रियबादिनि सिख दीन्हिउँ तोही। सपनेहु तो पर कोप न मोही॥१॥
सुदिन सुमंगल दायकु सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई॥२॥
जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुलरीति सुहाई॥३॥
राम तिलकु जौं साँचेहु काली। देउँ माँगु मन भावत आली॥४॥

शब्दार्थ—**बादिनि**=बोलनेवाली। **कोप**=क्रोध। **दायकु**=देनेवाला। **कहा**=कथन, कहा हुआ, वचन। **फुर**=(सं० स्फुरण)=सच, सत्य। **जेठ**=ज्येष्ठ, जेठा, बड़ा। **दिनकर**=सूर्य। **लघु**=छोटा। **आली**=सखी। **साँचेहु**=सत्य ही, सचमुच।

अर्थ—हे प्रियवादिनि मन्थरे! मैंने तुझे शिक्षा दी है (जिसमें फिर कभी ऐसा न कहे) तेरे ऊपर (तो) मुझे स्वप्नमें भी क्रोध नहीं है(भाव कि मैंने ऊपरसे तुझे कठोर वचन कहे हैं, अन्त:करणमें क्रोध नहीं है)॥१॥ वही दिन सुदिन और सुन्दर मङ्गलोंका देनेवाला है कि जिस दिन तेरा वचन (*रामहिं जनेसु देइ जुबराजू*) सत्य होगा॥२॥ सूर्यवंशकी यह सुन्दर रीति है। बड़ा भाई स्वामी और छोटा सेवक होता है॥३॥ कल ही सचमुच यदि रामजीका तिलक है तो, हे सखी! मनभाया पदार्थ माँग ले, मैं दे दूँगी॥४॥

टिप्पणी—१ *'प्रियबादिनि'''* इति (क) 'प्रियवादिनी' कहा; क्योंकि रामराज्याभिषेकरूपी प्रिय वचन सुनाये, यथा—*'सुनि प्रिय बचन''''''।'* (ख) *'सिख दीन्हिउँ'*—शिक्षा कई प्रकारसे दी जाती है। केकयीजीने मन्थराको (क्रोधका) भाव दिखाकर शिक्षा दी। मन्थराके कथनपर रानीको विश्वास नहीं हुआ। 'यदि रामराज्यकी तैयारी होती तो क्या हमारे यहाँ खबर न आती' ऐसा समझकर ही उन्होंने कहा कि *'तोर कहा फुर जेहि दिन होई।'* (ग) *'सपनेहु तो पर कोप न मोही'*—भाव कि तूने प्रिय वचन सुनाये, इससे तू मुझे प्रिय है और प्रियपर क्रोध नहीं होता। (अत: मैं तुझपर कुपित नहीं हूँ। इस बातको वह अपनी 'मुसकान' रूपी कर्म और 'प्रियवादिनी' सम्बोधनसे दृढ़ कर रही है। यहाँ 'उक्ताक्षेप अलङ्कार' है)।

टिप्पणी २(क) *'सुदिन सुमंगल दायकु—'* इति। सब मङ्गलोंसे रामराज्य विशेष है, अत: उसे

'सुमङ्गल' कहा। ऐसा सुमङ्गल जिस दिन हो वही दिन 'सुन्दर दिन' है। यथा—'*सुदिन सुमंगल तबहि जब रामु होहिं जुबराज॥ ४॥*' (ये गुरुजीके वाक्य हैं)। (ख) '*जेठ स्वामि सेवक लघु भाई—*' इति। भाव कि भरतका राजा होना अनुचित है। छोटा भाई राजा हो और बड़ा भाई उसकी सेवा करे, यह रीति अच्छी नहीं है। बड़ा भाई राजा हो और छोटा उसकी सेवा करे यह रीति सुन्दर है। यह भाव '*रीति सुहाई*' का हुआ। '*दिनकर कुल रीति*.....' भाव कि सूर्यकुल निर्मल है। उसमें अनुचित होना अशोभित है, उचित होनेसे ही उसकी शोभा है। '*दिनकर*' का भाव कि जैसे सूर्यसे अन्धकार आदिका नाश होता है, वैसे ही दिनकरकुलसे अनौचित्य आदिका नाश होता है। [धर्मशास्त्र भी कहता है कि जेठे पुत्रको ही राज्य मिलना चाहिये। यथा—'**ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् पित्र्यं धनमशेषतः। शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा॥**' (मनु० ९। १०५) अर्थात् पिताके समस्त धनका मालिक बड़ा पुत्र हो और मँझले तथा छोटे सब भाई बड़ेके अधीन रहें। '*सुहाई*' से इस कुलरीतिको दोषरहित जनाया।]

टिप्पणी ३ '*राम तिलकु जौं साँचेहु काली।*.....' इति। (क) ऊपरके '*तोर कहा फुर जेहि दिन होई*' और यहाँके '*जौं साँचेहु*' से स्पष्ट है कि कैकेयीजीको विश्वास नहीं होता कि कल ही राज्याभिषेक है; क्योंकि उनको विश्वास है कि यदि ऐसा होता तो सबसे प्रथम हमको ही शुभ समाचार मिलता। समाचार न मिलना, यह विघ्नका द्वार हो गया। (ख) '*काली*'—मन्थराने यह नहीं कहा कि कल राज्याभिषेक होगा। उसके वचन हैं—'*जेहि जनेसु देइ जुबराजू।*' पर कैकेयीजीके वचनोंसे सूचित होता है कि मन्थराने यह भी कहा है; क्योंकि यदि मन्थराने न कहा होता तो कैकेयी क्योंकर जानती?

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—भाव यह है कि श्रीरामजीके तिलकके लिये मैं कई बार महाराजसे कह चुकी हूँ, यथा—'*भामिनि भयउ तोर मन भावा। घर घर उत्सव बाज बधावा।*' पर कल ही तिलक है, यह मैं नहीं जानती। महाराजने कोई चर्चा भी नहीं की। अतः मुझे सहसा विश्वास नहीं होता। यदि सचमुच कल तिलक है तो इससे बढ़कर आनन्दका समाचार कौन है? तूने पहले-पहल यह समाचार सुनाया है, अतएव जो तेरी इच्छा हो वह मुझसे माँग ले। अन्य रानियोंने समाचार सुनानेवालोंको भूषण-वस्त्र दिये। रानी कैकेयी मुँहमाँगा देनेको प्रस्तुत हैं।

टिप्पणी—४ '*देउँ माँगु मन भावत आली*' इति। सब रानियोंने समाचार सुनानेवालोंको बहुत-बहुत पदार्थ दानमें दिये, यथा—'*प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाए। भूषन बसन भूरि तिन्ह पाए॥*' (८। १) कैकेयीजीने मन्थरासे ही प्रथम-प्रथम सुना, अतः कहती हैं कि '*देउँ माँगु*.....*।*' इन शब्दोंसे स्पष्ट है कि श्रीरामजी अन्य समस्त रानियोंसे अधिक श्रीकैकेयीजीको प्रिय हैं। देखिये, औरोंके सम्बन्धमें इतनामात्र कहा गया कि '*भूषन बसन भूरि तिन्ह पाये*', पर यहाँ '*मन भावत आली*' शब्द हैं। समाचार देनेवाली '*चेरी*' को '*आली*' (सखी तो पहले ही बना दिया और साथ ही उसको '*मन भावत*' मन माँगा देनेको कहती है, औरोंने मुँहमाँगा नहीं दिया है।)

दीनजी—आनन्दके उन्मेषमें दासीको सखी कह दिया। मन्थराने ही कैकेयीको जन्मसे पाला था इसलिये बड़ी होनेसे भी मान्या थी।

हरिहरप्रसादजी—'*आली*' कहनेका भाव यह कि किसी भी रीतिसे इसने रामराज-तिलक सुनाया तो अब इसे चेरी न कहना चाहिये। वा, अब प्रथम-प्रथम देवमायाकी छाया इनपर पड़ी। अब क्रमशः यहाँसे मन्थराके बहकानेका असर (प्रभाव) इनपर पड़ता जायगा।—(पंजाबीजी)

कौसल्या सम सब महतारी। रामहिं सहज सुभाय पियारी॥ ५॥
मोपर करहिं सनेहु बिसेषी। मैं करि प्रीति परीछा देखी॥ ६॥
जौ बिधि जनमु देइ करि छोहू। होहुँ राम सिय पूत पतोहू॥ ७॥
प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरें। तिन्हकें तिलक छोभ कस तोरें॥ ८॥

शब्दार्थ—**परीछा**=परीक्षा, जाँच। **परीछा करि देखी**=आजमा देखा है, जाँच करके निश्चय किया है। **पतोहू**=पुत्रवधू, बहू, पुत्रकी स्त्री। **सहज**=बनावटी नहीं, जन्मसे, स्वाभाविक। **होहुँ**=होवें।

अर्थ—रामको सब माताएँ कौसल्याके ही समान सहज स्वभावसे ही प्यारी हैं॥५॥ और मुझपर (तो वे) विशेष प्रेम करते हैं—मैंने उनकी प्रीतिकी परीक्षा करके देख ली है॥६॥ यदि विधाता कृपा करके जन्म दें तो कृपाकर यह भी दें कि राम मेरे पुत्र और सीता बहू हों॥७॥ राम मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं। उनके तिलकसे तुझे दुःख कैसा?॥८॥

टिप्पणी—१ (क) ***'कौसल्या सम सब महतारी……'*** इति। भाव कि तू कहती है कि ***'भयउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन'***, सो बात नहीं है, विधाता सब माताओंपर 'दाहिन' हुए हैं, कुछ एक कौसल्यापर ही नहीं। राम सबपर कौसल्याके समान प्रेम करते हैं और मुझपर कौसल्याजीसे भी अधिक प्रेम करते हैं। (ख) ***'सहज सुभाय पियारी'*** अर्थात् सब माताओंसे एक-सा प्रेम करना चाहिये, यह धर्म है, अतः हमें भी इस धर्मका पालन करना चाहिये। श्रीरामजी ऐसा (धर्म) समझकर प्रेम नहीं करते; किंतु सब माताएँ उनको स्वाभाविक ही, जन्मसे ही प्रिय हैं, (धर्म समझकर कर्म करना तो सयाने होनेपर ही हो सकता है, जब उसको धर्मकी शिक्षा मिलती है। शिक्षावाला कर्म छूट भी सकता है, पर स्वभाव अमिट है, वह आजीवन नहीं छूट सकता)। (ग)—भरतजी श्रीरामजीको अति प्रिय हैं, यथा—***'भरत सरिस प्रिय को जग माहीं।'*** (२। ७। ७) ***'भरत सरिस को राम सनेही। जग जप राम रामु जप जेही॥'***, ***'भरत अवधि सनेह ममता की। जद्यपि रामु सींव समता की।'*** (१८९। ६) और कैकेयीजी उनकी माता हैं; अतएव कैकेयीजी सब माताओंसे अधिक प्रिय हैं। (ख) ***'मैं करि प्रीति परीछा देखी'***—भाव कि मैंने कई बार उनके प्रेमकी परीक्षा की है। देख लिया कि सबसे अधिक उनका मुझमें प्रेम है; अतएव तुझे उनके तिलकमें दुःख न मानना चाहिये। (स्वामीका जिसपर प्रेम हो, उसपर सेवकका भी प्रेम होना चाहिये। मुझे राज्याभिषेक सुनकर प्रसन्नता हुई, तुझे भी प्रसन्न होना चाहिये) यह ***'भयउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन'*** का उत्तर है।

नोट १—***'सनेहु बिसेषी'***, यथा—***'मानी राम अधिक जननी ते जननिहु गँस न गही'***— (गी० ७। ३७), ***'सिथिल सनेह कहै कौसिला सुमित्रा जू सों, मैं न लखी सौति सखी भगिनी ज्यों सेई है। कहैं मोहिं मैया, कहौं मैं न, मैया भरतकी, बलैया लैहौं भैया तेरी मैया कैकेई है। तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी, काय मन बानी हूँ, न जानी कै मतेई है।……'*** (क० अ० कवित्त ३) सत्योपाख्यान आदि रामायणोंमें इसके उदाहरण मिलते हैं कि बालपनेमें जब ये रोते, रूठते इत्यादि तो कोई इन्हें न मना पाता; पर कैकेयी ज्यों ही आकर इन्हें गोदमें ले लेतीं वे चुप और प्रसन्न हो जाते। सबेरे सब माताएँ मक्खन-मिश्री लिये उनकी प्रतीक्षा करतीं, पर वे इन्हींके महलमें जाकर भोजन कर आते थे। इत्यादि। (प्र० सं०)

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—माँ-बापको बच्चोंकी प्रीतिकी परीक्षाके लिये सदा अवसर प्राप्त रहता है। व्यवहारसे ही प्रीतिकी परीक्षा होती रहती है। प्रीति छिपाये नहीं छिपती। यथा—***'बैर प्रीति नहि दुरहिं दुराए।'*** इसके लिये किसी घटना विशेषकी कल्पना व्यर्थ है।

टिप्पणी—२ ***'जौं बिधि जनमु देइ……'*** इति। (क) ***'जौं'***—भाव कि शरीरका जन्म कर्माधीन है और कर्मका फल ब्रह्मा देते हैं; यथा—***'जनम हेतु सब कहँ पितु माता। करम सुभासुभ देइ बिधाता॥'*** (२५५। ६) अतः ***'जौं '*** सन्दिग्ध वचन दिया। (ख) ***'जनमु देइ करि छोहू'***—अर्थात् जैसे इस बार कृपा करके जन्म दिया और श्रीराम-सीता पूत-पतोहू हुए, वैसे ही जब वे कृपा करके जन्म दें तभी राम-सीता पूत-पतोहू हों। (***'करि छोहू'*** दीपकदेहलीन्यायसे दोनों ओर है।) ***'करि छोहू'***—भाव कि ब्रह्मा ऐसी कृपा करके जन्म नहीं देते कि श्रीरामजी पूत-पतोहू हों (अतः प्रार्थना करती हैं कि जब-जब हमें जन्म दें तब-तब ऐसी ही कृपा किया करें कि राम हमारे पुत्र हों और सीता पतोहू हों)। (ग) ***'होहुँ राम सिय पूत पतोहू'***—इससे जनाया कि जैसे श्रीरामजी कैकेयीसे विशेष प्रेम रखते हैं वैसे ही श्रीसीताजी भी विशेष प्रेम करती हैं। (श्रीरामजीकी अधिक प्रीतिका परिचय तो परीक्षा करके पा लिया, सीताजीके सम्बन्धमें परीक्षा लेना नहीं

कहा। पर उनका भी नाम यहाँ देती हैं, यह क्यों? उनका स्वभाव कैसे जाना?) यहाँ सीताजीका भी नाम दिया, क्योंकि पतिव्रताका धर्म है कि जिसपर पति प्रसन्न हो उसपर वह भी प्रसन्न रहती है, जैसा पति करता है वैसा ही पतिव्रता करती है [उनके पातिव्रत्यधर्म पालनसे यह बात जान ली। यथा—*'लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई॥'* (२५२।५) (प्र० सं०) पुनः यथा—*'पति अनुकूल सदा रह सीता।""जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ॥'* (७। २४), *'मानी राम अधिक जननी तें जननिहु गँस न गही। सीय लखन रिपुदवन रामरुख लखि सबकी निबही॥'* (गी० ७। ३७) (घ)—*'जौ बिधि""पतोहू'* का भाव यह है कि प्रथम तो इनका संग ही न छुड़ावें और यदि कर्मवश फिर जन्म हो तो यह कृपा करके हमें माँगा दें कि राम मेरे पुत्र हों और सीता पतोहू अर्थात् इनका वियोग कभी न हो, जन्म-जन्म इनका सुख बना रहे। (रा० प्र०)]

टिप्पणी—३—*'प्रान तें अधिक रामु प्रिय""'* इति। (क) भाव कि श्रीरामजी कौसल्याजीसे अधिक मुझे प्यार करते हैं, अतएव वे मुझे प्राणोंसे अधिक प्रिय हैं। (ख) *'छोभ कस तोरे'*— यह *'जो अवलोकि मोर मन छोभा'* का उत्तर है। प्राणसे अधिक कहनेका भाव कि प्राणसे अधिक प्रिय कोई वस्तु नहीं है, पर श्रीरामजी उससे भी अधिक प्रिय हैं। *'छोभ कस तोरे'* का भाव कि तू मेरी दासी है। राम मुझे प्राणप्रिय हैं, तो तुझे प्राणप्रिय होने चाहिये, तुझे भी तिलक सुनकर हर्ष होना चाहिये था, सो न होकर तुझे उलटे क्षोभ हुआ। यह उलटी बात कैसी?

नोट २ ☞ *'छोभ कस तोरे।'* बस, यहीं रानी धोखा खा गयीं। अब इन्हीं शब्दोंके निकलनेपर कुबड़ी मन्थराको फिर बोलने और अपना दाँव गाँठनेका मौका मिल गया; नहीं तो उसे उत्तर देनेकी कोई बात ही न थी।

दो०—भरत सपथ तोहि सत्य कहु परिहरि कपट दुराउ।
हरष समय बिसमउ करसि कारन मोहि सुनाउ॥ १५॥

शब्दार्थ—**सपथ**=(शपथ) सौगन्ध, कसम। **परिहरि**=छोड़कर। **दुराउ**=(दुराव) छिपाव, गुप्त रखनेका भाव। यह ठेठ अवधी है। (दीनजी) **कपट**=छल, अभिप्राय साधनके लिये हृदयकी बातको छिपानेकी वृत्ति। 'दुराव' में भय या अविश्वासके कारण छिपाव किया जाता है और कपटमें स्वार्थ साधनके लिये।

अर्थ—तुझे भरतकी कसम है, छल-कपट छोड़कर तू सच-सच कह। तू हर्षके समय खेद कर रही है, मुझे इसका कारण सुना॥ १५॥

नोट—१—दासीको भरत प्रिय हैं, वह उनका पक्ष ले रही है, यथा—*'पूत बिदेस न सोच तुम्हारे।'* इससे भरतकी कसम दिलाती है। पुनः, वह भरतके ननिहालकी है, इससे भी भरतमें उसे अपनपौ है, अतएव 'भरत-शपथ' दी।

टिप्पणी—१ (क) हृदयमें कुछ होना और ऊपर कुछ होना 'कपट' है। मुँहसे न कहना, छिपाये रखना 'दुराव' है। कपटमें असत्य रहता है इसीसे कपट छोड़कर सत्य कहनेको कहती है। मन्थराने सब बातें छिपी मुँदी कही हैं। रामराज्य होनेमें और कौसल्याजीके हर्षमें अपनेको क्षोभ होनेका कारण खोलकर नहीं कहा है। पूत विदेशमें है, तुम्हें शोच नहीं है इस (कथन) का कारण नहीं कहा। भूपकी कपट-चतुरता नहीं लक्ष्य कर पाती हो, इसे भी उसने नहीं बताया (कि क्या 'कपट-चतुराई' राजाने की) । यह दुराव है अतएव दुराव छोड़कर स्पष्ट कहनेको कहती है। [(ख) *'हरष समय'*—राज्याभिषेकोत्सव सुमङ्गल है। इसे जिस-जिसने सुना वह हर्षित हुआ, यह पूर्व दिखा आये हैं। कैकेयीको भी सुनकर हर्ष हुआ। यह हर्षका समय है (ग) *'बिसमउ करसि'*—अर्थात् रोती है, ऊर्ध्व श्वास लेती है, इत्यादि; यथा—*'ऊतरु देइ न लेइ उसासू। नारिचरित करि ढारइ आँसू॥ छाँड़इ साँस कारि जनु साँपिनि॥'* (१३।६।८)

नोट—२—अ० रा० में दोहेके उत्तरार्धसे मिलता हुआ श्लोक ५५ का उत्तरार्ध यह है—'**हर्षस्थाने किमिति मे कथ्यते भयमागतम्।**' (सर्ग २)

नोट—३—यहाँ अब देवमायाका अङ्कुर जमा, जिसे पुष्ट करनेके लिये मन्थराके वचन जलरूप हैं। (पं०)

एकहि बार आस सब पूजी। अब कछु कहब जीभ करि दूजी॥ १॥
फोरै जोगु कपारु अभागा। भलेउ कहत दुख रउरेहि लागा॥ २॥
कहहिं झूठि फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुम्हहि करुइ मैं माई॥ ३॥
हमहुँ कहबि अब ठकुरसोहाती। नाहिं त मौन रहब दिन-राती॥ ४॥

शब्दार्थ—**आस पूजी**=आशा पूरी हो गयी। **दूजी**=दूसरी। **फोरै जोगु**=फोड़ने योग्य। **कपारु** (कपाल)=सिर, मस्तक, खोपड़ी। **रउरेहि**=आपको, तुमको,। **मौन**=चुप।

अर्थ—(मन्थरा बोली) सब आशा तो एक ही बार बोलनेमें अर्थात् पहली ही बार पूर्ण हो गयी, अब तो दूसरी जीभ बना वा लगाकर कुछ कह सकूँगी॥ १॥ मेरा अभागा सिर फोड़ने ही योग्य है, जो हितकी (बात) भी कहते आपको दुःख हुआ॥ २॥ जो झूठी सच्ची बात बनाकर कहते हैं, हे माई! वे ही तुम्हें प्रिय हैं और मैं कड़ुवी हूँ॥ ३॥ मैं भी अब ठकुर-सुहाती कहूँगी, नहीं तो दिन-रात मौन रहूँगी॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) '*एकहि बार*'—अर्थात् एक बार विस्मयका हाल कहा, उसीमें सब आशा पूर्ण हो गयी। अर्थात् आशा तो यह थी कि इस बातके कहनेसे कुछ उत्तम पारितोषिक मिलेगा सो तुमने जीभ ही निकाल लेनेको कहा। अतएव सब मेरी आशाएँ पूर्ण हो गयीं, अब कुछ इच्छा न रह गयी। (ख) '*अब कछु कहब जीभ*…'—अर्थात् एक बार विस्मयका कारण कहने (एक बार बोलने) का फल यह मिला कि तुमने मेरी जीभ निकलवा लेनेको कहा। अब फिर वही बात पूछती हो (तो पुनः बोलनेमें एक जीभ तो उसीमें चली जायगी। अतः) जब दूसरी जीभ बना लूँ तब कहनेका साहस करूँ (जिसमें एक जाय तो एक तो रह जाय। न दूसरी जीभ होगी न बोलूँगी। इससे यह भी जनाती हैं कि मुझे वही अथवा वैसी ही बात फिर कहनी होगी। पं० रामगुलाम द्विवेदीजी कहते हैं कि '*दूजी जीभ*' का भाव यह है कि दो जिह्वाएँ सर्पके होती हैं; मन्थरा भी द्विजिह्व बनकर कैकेयीको डसेगी)।

नोट—१—इसमें यह भी भाव है कि मैं तुम्हारे हितके लिये तुम्हारे पास आयी, पर तुम मेरी बात सुनती ही नहीं, तुम तो सौतकी बढ़ती सुनकर मुझे वरदान देना चाहती हो—'*माँगु देउँ मन भावत आली*' यथा—'**साहं त्वदर्थे संप्राप्ता त्वं तु मां नावबुद्ध्यसे। सपत्निवृद्धौ या मे त्वं प्रदेयं दातुमर्हसि॥**' (वाल्मी० २। ८। २६)। भला शत्रु सौतका बेटा राज पा रहा है तो इस संवादसे किस बुद्धिवाली स्त्रीको प्रसन्नता होगी, यह तो मरणके समान भयदायक है और तुम मुझे इस संवादपर मनभावता बर देनेको तत्पर हो। यथा—'**अरेः सपत्नीपुत्रस्य वृद्धिं मृत्योरिवागताम्।**' (वाल्मी० २। ८। ४) ये सब भाव '*एकहि बार आस सब पूजी*' में आ गये।

टिप्पणी—२ '*फोरै जोगु कपारु अभागा*……' इति। [(क) अर्थात् मैं तो तुम्हारे हितकी बात कहती हूँ, पर वह तुम्हें अच्छी नहीं लगती। इसमें भी आपका दोष क्या? मेरा ही अभाग्य है] अभाग्य तो वस्तुतः उसका होता है जिसको उसके भलेकी बात कहनेसे बुरा लगता है, किंतु कैकेयीके डरसे वही उन्हें अभागिनी न कहकर अपनेको ही अभागिनी कहती है। (ख) मेरा कपाल फोड़ने योग्य है। अर्थात् मेरे कपालमें अभाग्य लिखा है इसीसे वह फोड़ डालने योग्य है (यह आगे फोड़ा ही जायगा। यथा—'*कूबर टूटेउ फूट कपारू।*' (१६३। ५) '*भलेउ कहत*……'— भाव कि अहित कहनेमें बुरा लगे तो ठीक है पर हित कहनेमें बुरा लगना अनुचित है, यह नाशका चिह्न है, यथा—'*हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहँ भेषज जैसे॥*' (६। १०। ४)

नोट—२— यहाँ मन्थरा-समान स्त्रियोंका प्रकृत-चित्रण कितना सुन्दर है। वाल्मीकीय और अध्यात्मकी मन्थरा तो पहलेसे ही लट्ठमार चलती है। वह तो कैकेयीके सामने जाते ही उन्हें मूढ़, दुर्भगे आदि कहकर फटकारने लगती है। यथा—'**किं शेषे दुर्भगे मूढे महद्भयमुपस्थितम्।**' (अ० रा० २। २। ५२) '**उत्तिष्ठ मूढे किं शेषे भयं त्वामभिवर्तते।**' (वाल्मी० २। ७। १४)

नोट ३—अभागा कपाल फोड़ने योग्य है अर्थात् अभाग्य तो मेरा तभी हो गया जब मैंने रामराज्य-तिलक सुना और अब मैं तुम्हें भी नहीं सुहाती इससे अभागी खोपड़ी फोड़ने योग्य है, इसे रखकर क्या करूँगी, अब मेरे समान अभागिनी कौन होगी? स्त्रियोंका यह स्वभाव है कि वे दोनों हाथ सिरपर पटककर इस तरह कहा करती हैं वैसा ही मन्थराने किया।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'फोरै जोगु……'* का भाव कि जो आपने कहा कि *'तब धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी',* सो मेरी जीभ कढ़ाने योग्य नहीं है, क्योंकि वह तो भली बात कह रही है। हाँ! मेरा कपाल फोड़ने योग्य है कि मैं कहूँ आपके भलेकी बात और आपको बुरा लगे। यह दोष मेरे भाग्यका है। मेरे कपालमें ब्रह्मदेवने लिखा है कि यह अच्छी बात कहेगी, पर सुननेवाला इससे रुष्ट ही हो जायगा। (विशेष दोहा १६ में इस दोहेभरके भाव देखिये।)

टिप्पणी—३ *'कहहिं झूठि फुरि बात बनाई।……'* इति। (क) जो झूठको सच बनाकर और सचको झूठा करके कहे वह तुमको प्रिय है। अर्थात् मैंने सत्य कहा, झूठ नहीं कहा, इसीसे मैं प्रिय नहीं हूँ, कड़वी हूँ। (झूठ-फुर=झूठी-सच्ची। यह मुहावरा है।) सत्यवक्ता कड़वे होते हैं। यथा—*'प्रिय बानी जे सुनहिं जे कहहीं। ऐसे नर निकाय जग अहहीं॥ बचन परमहित सुनत कठोरे। सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे॥'* (६। ९। ८-९) '**सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः। अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥**' (वाल्मी० ३। ३७। २) मारीचने रावणसे कहा कि हे राजन्! प्रिय बोलनेवाले मनुष्य सदा मिला करते हैं, पर अप्रिय हितकारी वचन बोलनेवाला और सुननेवाला दुर्लभ है। मनुस्मृतिमें भी ऐसा ही कहा है। *हमहुँ कहब अब ठकुर सोहाती।……'* इति।—

१—ठकुरसुहाती—ठाकुर अर्थात् स्वामीको रुचनेवाली; दूसरेको पसन्द आनेवाली बात; लल्लोचप्पो; खुशामद; मुँहदेखी। भाव यह कि या तो तुम्हारी-सी कहूँगी या चुप रहूँगी।

२— पं० रामकुमारजी—भाव कि जिस ठकुरसुहातीसे तुम्हारा भला होगा वह कहा करूँगी और जिससे अनभल होगा वह न कहूँगी, उससे मौन रहूँगी; क्योंकि *'अनभल देखि न जाइ तुम्हारा।' दिन राती*=सदैव, आठो पहर, हमेशा। —यह मुहावरा है। मन्थरा कैकेयीके साथ ही सदा रहती है। अतएव *'दिन-राती'* कहकर जनाती है कि रहना तो सदैव साथ ही है, इससे तुम्हारे मनकी कहूँगी नहीं तो मौन रहूँगी। (मौन ही धारण कर लूँगी यदि ठकुरसुहाती तुम्हारे हितकी न होगी।)

३— हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि यहाँ 'दिन-राती' में एक सरस्वतीकृत गूढ़ भाव यह है कि 'एक दिन' अर्थात् आजका दिन और रात मौन रहूँगी, कल दूसरे दिन तो रामराज्य हो जानेपर तुम्हारी ठकुराई ही न रहेगी तो हमें ठकुरसुहाती कहनेका अवसर ही क्यों पड़ेगा।

नोट—४ मन्थरा अपने इन वाक्योंसे अपनेको सत्यवादिनी प्रमाणित कर रही है। *'कहहिं झूठि फुरि बात बनाई।…राती'* ये कैकेयीके *'सत्य कहु परिहरि कपट दुराउ'* इन वचनोंके उत्तर हैं। अ० रा० २। २। ५७ के 'तच्छ्रुत्वा विषसादाथ कुब्जाऽकारणवैरिणी' इस समास-कथनको गोस्वामीजीने यहाँ किस खूबीसे व्याससे वर्णन किया है। विश्वास उत्पन्न करानेमें यह चरित, इस प्रकारका विषाद, अपना अभाग्य कथन इत्यादि कैसे प्रभावशाली होते हैं, यह स्वभाव-निरीक्षक नित्य ही भलीभाँति देखते-जानते हैं। यही चरित मन्थरा कर रही है।

करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा। बवा सो लुनिअ लहिअ जो दीन्हा॥५॥
कोउ नृप होउ हमहि का हानी। चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी॥६॥

जारै जोगु सुभाउ हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा॥ ७॥
ताते कछुक बात अनुसारी। छमिअ देबि बड़ि चूक हमारी॥ ८॥

शब्दार्थ—**कुरूप**=बदसूरत, बदशक्ल, जिसका रूप बुरा हो। **बवा**=बोया। **लुनिअ**=(लूणन) काटती हूँ। **अनभल**=अहित, बुरा। **देबि!**=हे देवी ! **अनुसारी**=की, चलायी, छेड़ी, कही। 'अनुसारना' सकर्मक क्रिया है। (सं० अनुसरण) कविलोग यौगिक क्रिया बनानेमें प्रायः किसी भी संज्ञा शब्दके साथ इस क्रियाको जोड़ देते हैं। यथा—*'तब ब्रह्मा बिनती अनुसारी'* (सूर), *'सादर सिंहासन बैठारी। तिलक सारि बिनती अनुसारी॥'* (तुलसी) इत्यादि। (श० सा०) **छमिअ**=क्षमा कीजिये, मुआफ करो। **चूक**=गलती, भूल, अपराध।

अर्थ—विधाताने कुरूप बनाकर मुझे परवश किया। जो बोया सो काटा, जो दिया सो पाया॥ ५॥ कोई भी राजा हो हमारी क्या हानि है? हे रानी! चेरी छोड़कर अब मैं और क्या होऊँगी?॥ ६॥ हमारा स्वभाव तो जलानेके ही योग्य है। तुम्हारा अहित मुझसे देखा नहीं जाता॥ ७॥ इसीसे कुछ चर्चा चलायी। हे देवि! हमारी बड़ी भूल हुई, क्षमा कीजिये॥ ८॥

नोट—१ रानीके *'खोरे कूबरे··· तिय बिसेषि पुनि चेरि'* इन वचनोंका उत्तर *'करि कुरूप···'* है। और *'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥'* का उत्तर *'कोउ नृप होउ···'* यह है।

नोट २—*'करि कुरूप·····'* इति। अर्थात् एक तो लँगड़ी और कुबड़ी बनायी उसपर भी स्त्री और दासी करके तुम्हारी-ऐसी स्वामिनीके वशमें किया कि जो हित कहनेपर भी कटु वचन सुनावे। परवश होनेसे सब सुनना-सहना पड़ता ही है। *'बोवे सो काटे, देवे सो पावे'* यह कहावत है अर्थात् पूर्व जैसे कर्म किये वैसा फल मिला। कर्माधीन तुम्हारी चेरी हुई।

टिप्पणी—१ (क) *'काने खोरे कूबरे···'* का उत्तर *'करि कुरूप'* यह देकर फिर कुरूप और परवश होनेका कारण कहती है कि *'बवा सो लुनिअ।'* अर्थात् मैंने पाप बोया था अतएव पापका फल मुझे मिलना चाहिये। ब्रह्माजीने कुरूप किया यह पापका फल दिया। चेरी होनेके योग्य कुरूपता दी, अतः मैं चेरी हुई। कुरूप करके परवश किया अर्थात् *'काने खोरे···'* ऐसी-ऐसी बातें सहनी पड़ती हैं। (ख) *'बवा सो लुनिअ···'*—अर्थात् इसमें कहनेवालेका कोई दोष नहीं, हमारे कर्मोंका दोष है। यथा—*'हौंहूँ रहौं मौन ही बयो सो जानि लूनिये'* (ह० बाहुक)। (ग) *'हमहि का हानी'*—मेरी क्या हानि है? अर्थात् मैं तो केवल तुम्हारी हानि देखकर कहती थी। मेरी न तो कुछ हानि है न लाभ। रानी होती तो लाभ होता, सो तो होना नहीं है।

पं०विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'कोउ नृप होउ·····'* इति। भाव कि आप इतना भी नहीं समझतीं कि जो मैं कह रही हूँ इसमें मेरा स्वार्थ क्या है? मैं तो चेरी हूँ और चेरी ही रहूँगी। मेरी हानि कुछ नहीं है। हानि उसकी है जो रानी रहकर चेरी बनने जाती है।

नोट—३ *'चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी'* इति। इसके दो प्रकारसे अर्थ किये गये हैं। एकमें—'हे रानी! चेरी छोड़ अब हम और क्या हो सकती हैं? अर्थात् चेरीसे नीची पदवी अब और कौन है जिसके पानेका हमें डर हो सकता हो। यदि राम राजा हुए तो भी चेरीसे और गिरी दशा कोई हो ही नहीं सकती। इससे वही राजा हों तो भी हमारी हानि नहीं। *'हमहिं का हानी?'* इन शब्दोंके विचारसे यहाँ हानि दिखा रही है। (कि मेरी कोई हानि नहीं) इस विचारसे यह अर्थ जो हरिहरप्रसादजीने किया है विशेष सङ्गत जान पड़ता है। इस वाक्यमें ध्वनि यह है कि हमारी कोई हानि नहीं, पर तुम्हारी हानि है, यदि राम राजा हुए तो मैं चेरी-की-चेरी ही बनी रहूँगी, पर तुम रानी-की-रानी ही न रह जाओगी; किंतु तुम चेरी बनोगी। यथा—*'जौं सुत सहित करहु सेवकाई। तौ घर रहहु न आन उपाई॥'* (१९। ८) रानीसे चेरी होगी, यह तुम्हारी हानि है, दीनजी भी इसी अर्थको ठीक मानते हैं।

दूसरा अर्थ यह किया गया है कि 'क्या अब मैं चेरी छोड़ रानी होऊँगी' अर्थात् नहीं। अर्थात् भरतजी अगर राज्य पावें तो भी हम चेरी ही रहेंगी, कुछ रानी न हो जायेंगी और तुम जैसी रानी अब,

वैसी तब भी रहोगी और यदि रामराज्य हुआ तो भी मैं चेरी ही रहूँगी—ऐसा अर्थ बैजनाथजी, पंजाबीजी, पं० रामकुमारजी और विनायकीटीकाकार आदि महानुभावोंने किया है। पर 'चेरीसे रानी न बन जाऊँगी' इसमें 'रानी बनना' हानिके सङ्ग कुछ जोड़ नहीं खाता।

टिप्पणी २—'*जारै जोगु सुभाउ*…' इति। (क) भाव कि भलाईकी बात कहनेसे तुम्हें बुरा लगता है तो उसे (भलाईकी बातको) न कहना चाहिये, पर मैंने स्वभाववश कह दिया। [जिसका अनभल हो रहा है और वह उसमें भला मानता है, तब दूसरा क्यों जलता है? यह जानते हुए भी मुझे जलन होती है। (रा० प्र०)] अतएव मेरा स्वभाव जलाने योग्य है। आशय यह है कि इतना होनेपर भी मुझसे तुम्हारा अनभल देखा नहीं जाता। (ख) इस कथनसे मन्थरा सूचित करती है कि मैं स्वाभाविक तुम्हारा हित करती हूँ, (दासीको स्वामिनीका सदा हित करना ही चाहिये। मेरा तुमपर अत्यन्त प्रेम है अत: स्वभावसे ही मैं तुम्हारी हितैषिणी हूँ, तुम्हारे हितके लिये कहा था), तुम्हारा अहित होनेवाला है। स्वभावको जलाने और कपालको फोड़ने योग्य कहा।

टिप्पणी ३—'*ताते कछुक बात*…' इति। (क) ताते अर्थात् तुम्हारा अनभल नहीं देख सकती, इस स्वभावके वश होकर। '*कछुक*' से जनाया कि अनभलकी बात तो बहुत है, मैंने उसमेंसे कुछ थोड़ी-सी कही है। (इतनेहीमें आप बिगड़ पड़ीं। इन वचनोंसे भारी सङ्कटका भयदर्शन करा रही है) (ख) '*छमिअ देबि बड़ि चूक हमारी*' इति। क्षमा कीजिये, ऐसा कहा जिसमें वह पुनः पूछे। बातको 'कछुक' और चूकको बड़ी कहनेका भाव कि इतनी बात भी न कहनी चाहिये थी। (देवि! अर्थात् आप दिव्य हैं, सत्त्वगुणयुक्त हैं; अत: चूकको क्षमा करें। क्षमाकी प्रार्थना करके जनाती है कि बस अब कुछ न कहूँगी और आप भी अब मत पूछिये। इस प्रकार मन्थराने कैकेयीपर अपनी प्रतीति जमानेकी नींव यहाँपर डाल दी।)

दो०—गूढ़ कपट प्रिय बचन सुनि तीय अधरबुधि रानि।
सुरमाया बस बैरिनिहि सुहृद जानि पतिआनि॥१६॥

शब्दार्थ—**बैरिनि**=स्त्री शत्रु। **सुहृद**=हृदयकी अच्छी, मित्र, हितैषिणी। **पतिआनि**=(सं० प्रत्ययन) विश्वास कर लिया।

अर्थ—'स्त्री', 'अधरबुधि', और देवमायावश होनेके कारण गूढ़ कपट भरे हुए प्रिय वचनोंको सुनकर रानीने मन्थरा वैरिनिको सुहृद् जानकर उसपर विश्वास कर लिया॥१६॥

नोट—१ '*अधरबुधि*' इति। 'अधर' का अर्थ ओष्ठ भी है। इस विचारसे बैजनाथजी, हरिहरप्रसादजी, विनायकी टीकाकार आदि महानुभावोंने अर्थ किया है—ओष्ठपर बुद्धिवाली अर्थात् क्षुद्र, क्षणमात्र रहनेवाली या वचनमात्र। शब्दसागरमें 'अधर' के अर्थ ये दिये हैं—(अ=नहीं, धृ=धारण करना)=१-बिना आधारका स्थान, शून्य स्थान। २—जो पकड़में न आवे, चञ्चल। ३—नीच, बुरा। इस अन्तिम अर्थपर उदाहरण इसी दोहेका दिया है। बाबा हरिहरप्रसादने भी 'नीच' अर्थ किया है। दीनजी 'अधर' का अर्थ करते हैं—न इधर और न उधर, बीचमें, दुविधायुक्त। वीरकविजी लिखते हैं कि कोई-कोई इस प्रकार अर्थ करते हैं कि —'स्त्रियोंकी बुद्धि ओठोंपर होती है अर्थात् कहासुनीसे चलविचल हो जाती है। प्रथम तो ओठ बुद्धिके रहनेका स्थान नहीं है, इसलिये बलात् उसे ओठमें स्थापन करना युक्तियुक्त नहीं। दूसरे यहाँ तात्पर्य चञ्चलतासे है जो एक समान स्थिर न रहे।' पोद्दारजी लिखते हैं कि धरा कहते हैं जमीन, आधार, टिकावको। अत: 'अधर' का अर्थ हुआ बिना धरा (आधार) की (अस्थिर)!

टिप्पणी—१ '*गूढ़ कपट प्रिय बचन सुनि*…' इति। (क) कैकेयीने मन्थरासे कहा था कि कपट छोड़कर सत्य कह, यथा—'*भरत सपथ तोहि सत्य कहु परिहरि कपट दुराउ।*' (१५), इसीसे मन्थराने कपटको गुप्त किया। '*प्रिय बचन*'—कपट छिपानेके लिये कपटी लोग प्रिय वचन बोलते हैं, वैसे ही इसने कपट छिपानेके

लिये प्रिय वचन कहे। (उसके सभी वचनोंमें कपट छिपा हुआ है। *'प्रिय बचन'*—मन्थराके वचन प्रिय हैं, क्योंकि इनसे झलकता है कि रानीकी बड़ी हितैषिणी है, अपमान होनेपर भी वह स्वामिनीका भला ही चाहती है। उसके सब वचनोंसे यह प्रतीत होता है कि वह जो कुछ कहनेको है वह सब रानीके हितके लिये है।) (ख)—*'तीय अधरबुधि''''*—(मन्थरापर विश्वास कर लेनेका कारण बताते हैं कि) एक तो रानी स्त्री है, स्त्री स्वाभाविक अज्ञानी होती है, यथा—*'कीन्ह कपट मैं संभु सन नारि सहज जड़ अज्ञ।'* (१। ५७) *'जदपि सहज जड़ नारि अयानी।'* (१। १२०) दूसरे वह अधर अर्थात् नीचबुद्धि है; इसीसे वह मन्थराके कपटको न जान पायी। यथा—*'रहइ न नीच मते चतुराई।'* (२४। ८) पुनः, *'तीय अधरबुधि'* का भाव कि उत्कृष्ट बुद्धिवालेके पास देवमाया नहीं जाती, यथा—*'सो मति मोहि कहत करु भोरी। चंदिनि कर कि चंड कर चोरी॥'* (२९५। ६) *'भरत जनक मुनिजन सचिव साधु सचेत बिहाइ। लागि देवमाया सबहि जथाजोग जनु पाइ॥'* (३०२) रानीकी बुद्धि उत्कृष्ट नहीं है, इसीसे उसे देवमाया लगी। (ग) सरस्वतीने मन्थराकी मति फेरी थी न कि रानीकी। तब यहाँ *'सुरमाया बस'* कैसे कहा? समाधान—*'सुरमाया बस'* कहनेसे पाया गया कि जब सरस्वती मन्थराकी मति फेरकर चली गयी, तब देवताओंने अपने कार्यके अनुकूल माया रची और कैकेयीकी मतिको फेरा। देवता जहाँ-तहाँ ऐसी ही माया किया करते हैं। यथा—*'लोग सोग श्रम बस गए सोई। कछुक देवमाया मति मोई॥'* (८५। ६) *'सुरमाया बस लोग बिमोहे। राम प्रेम अतिसय न बिछोहे॥'* इत्यादि। [देवता अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये रह-रहकर बीच-बीचमें माया करते रहते हैं। जब रानीने कहा कि *'प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे।''''* तब उसकी बुद्धि दिव्य जानकर वे डरे कि कहीं ऐसा न हो कि यह मन्थराके बहकानेमें न आवे, तब तो हमारा काम ही बिगड़ जायगा, उन्होंने रानीपर माया डाली। अ० रा० में कैकेयी और मन्थरा दोनोंपर सरस्वतीका माया डालना लिखा है। देवताओंने उससे कहा है, पहले तुम मन्थरामें प्रवेश करना, फिर कैकेयीमें। सरस्वतीने 'बहुत अच्छा' कहकर वैसा ही किया और प्रथम मन्थरामें प्रवेश किया। यथा—**'मन्थरां प्रविशस्वादौ कैकेयीं च ततः परम्।'** (२। २। ४५)**'''''तथेत्युक्त्वा तथा चक्रे प्रविवेशाथ मन्थराम्॥'** (४६) जैसे अध्यात्ममें मन्थरामें प्रवेश करना तो लिखा गया किंतु रानीमें प्रवेश करना केवल **'तथेत्युक्त्वा'** और **'अथ'** शब्दोंमें आशयसे जनाया गया है। वैसे ही मानसमें कविने यहाँ *'सुरमाया बस'* से पीछे रानीपर भी देवमायाका डाला जाना जना दिया है। इसकी पुष्टि भरद्वाजजीके *'तात कैकइहि दोसु नहिं गई गिरा मति धूति।'* (२०६) इस वाक्यसे होती है। सरस्वती ब्रह्माकी शक्ति है। इस तरह, *सुरमाया*=सुर (ब्रह्माकी) माया (शक्ति) सरस्वती। अथवा, देवताओंके कहनेसे सरस्वतीने मति फेरी, इससे देवमायावश कहा। सरस्वती देवी है ही, इसके द्वारा बुद्धि फेरी जाया करती है। अतः 'सुरमाया' से सरस्वतीका अर्थ ले सकते हैं। इससे भरद्वाज-वाक्य और अ० रा० से सङ्गति बैठ जाती है।] (घ) *'बैरिनिहि सुहृद जानि''''* यह सुरमायाका कार्य (प्रभाव) कहा कि वैरिनिको सुहृद् जाना और उसपर विश्वास किया। भाव यह कि शत्रुका विश्वास न करना चाहिये, पर रानीकी बुद्धि ही विपरीत हो गयी, उसने विश्वास कर लिया। यहाँ 'दूसरा समुच्चय' और 'भ्रान्ति' अलङ्कार है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—मन्थरा वस्तुतः वैरिन थी। अपनी प्रतिहिंसा-वृत्ति तथा राजसुखको करतलगत करनेकी सिद्धिके लिये रानीका सर्वनाश करनेपर तुली हुई थी। यथा—*'कुबरी करि कबुली कैकेई। कपट छुरी उर पाहन टेई॥'* रानी यद्यपि बड़ी बुद्धिमानीकी बात बोली, पर थी भोली-भाली और इस समय देवमायाके वश हो रही थी, प्रिय वचन सुनकर उसे सुहृद् समझ लिया और विश्वास कर बैठी। 'केवल मुझे छोड़कर संसारमें कोई तुम्हारा हित नहीं है, स्वयं महाराज भी कपट-चतुर हैं, मीठी बातें बनाकर तुम्हें ठगा करते हैं' इत्यादि बातें विश्वास करने योग्य नहीं थीं, पर सुरमायावश होनेसे रानीको विश्वास हो गया।

मन्थराको सरस्वतीने कपटकी पेटारी बनाया था। पेटारीमें क्या है, बाहरसे पता नहीं चलता। रानीको

पता नहीं चला कि उसके प्रिय वचनके भीतर कितना कपट भरा हुआ है। *'एकहि बार आस सब पूजी'.....भलेउ कहत दुख रौरे लागा'* कहकर पतिनिन्दातक सुननेके लिये रानीको तैयार कर रही है। *'कहहिं झूठ फुरि बात बनाई'....नाहिं त मौन रहब दिन-राती'* कहकर स्वयं हितचिन्तक बनती है, और सबको झूठी बात बतलानेवाला बता रही है, जिसमें बात आगे बढ़नेपर रानी किसीपर विश्वास न करे।

'करुइ मैं माई।' यहाँ *'मैं'* पर जोर है। भाव यह कि मैं तो नैहरसे तुम्हारे साथ आयी हूँ, दूसरा तुम्हारा यहाँ है कौन?

'करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा'.....लहिय जो दीन्हा' कहकर अपनी पाप-प्रवृत्ति छिपाती है। प्राक्तन कर्मसे कुरूप हुई, चेरी हुई। यह बात जानकर अब मैं ऐसी बात नहीं कर सकती, जिससे मेरा परलोक नष्ट हो, अतः मेरा कहना सदुपदेश है। *'कोउ नृप होइ हमहिं का हानी'* कहकर अपनी रामजीके प्रति प्रतिहिंसा-वृत्ति (*रामतिलक सुनि भा उर दाहू*) छिपाती है, और *'चेरि छाड़ि अब होब कि रानी'* कहकर भरतके राजा होनेपर उनके और कैकेयीके आँखोंकी पुतली बननेके हौसलेको छिपाती है (*'देखि लागि मधु कुटिल किराती। जिमि गँव तकै लेहुँ केहि भाँती'*)।

'जारै जोग सुभाव हमारा'....बड़ि चूक हमारी' कहकर अपना स्वार्थ छिपाते हुए कैकेयीपर स्वाभाविकी प्रीति दिखलाती है कि मेरी जिन्दगी तो तुम्हारे साथ कटी, अतः तुम्हारा अनभल मुझसे देखा नहीं जाता। और लोगोंको क्या पड़ी है कि तुम्हारे अनभलके रोकनेके लिये अपने प्राणोंको खतरेमें डालें।

नोट २—यहाँतक मन्थराने कैकेयीजीके सब वचनोंका उत्तर दिया।

कैकेयी-वचन	उत्तर
१. *सभय रानि कह कहसि किन कुसल राम*	*रामहिं छाँड़ि कुसल केहि आजू।* इत्यादि
२. *हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे*......	*गाल करब केहि कर बल पाई।*
३. *दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे*...	*कत सिख देइ हमहिं कोउ माई*
४. *झुकी रानि अब रहु अरगानी*..	*नाहिं त मौन रहब दिन राती*
५. *पुनि अस कबहुँ कहसि*...*जीभ कढ़ावउँ*	*अब कछु कहब जीभ करि दूजी*
६. *सुदिन सुमंगल*...*रामतिलक जौं साँचेहु*....	*कोउ नृप होउ हमहिं का हानी।*....
७. *देउँ माँगु मन भावत आली*	*एकहि बार आस सब पूजी*
८. *भरत सपथ तोहि सत्य कहु*	*कहहिं झूठि फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुम्हहि करुइ मैं माई॥*
९. *परिहरि कपट दुराउ*	गूढ़ कपट। (मन्थराने कपटको गुप्त किया)

सादर पुनि पुनि पूछति ओही। सबरी गान मृगी जनु मोही॥ १॥
तसि मति फिरी अहइ जसि भाबी। रहसी चेरी घात जनु फाबी॥ २॥

शब्दार्थ—**ओही**=उससे। **सबरी**=शबरजातिकी स्त्री, भीलनी। **मोही**=मोहित हो गयी, मुग्ध हो गयी, लुभा गयी। **अहइ**=है। **भाबी**=होनहार, हरि इच्छा, भवितव्यता। **फाबी**=लग गयी।

अर्थ—(रानी) बारंबार उससे आदरपूर्वक पूछ रही है। मानो शबरीके गानपर हरिणी मोहित हो गयी हो॥ १॥ जैसी भावी है वैसी ही बुद्धि भी फिर गयी। चेरी खुश हुई मानो घात लग गया॥ २॥

टिप्पणी—१ *'सादर पुनि पुनि पूछति'* 'इति। (क) देखिये प्रथम इसका निरादर किया था, यथा—*'झुकी रानि अब रहु अरगानी।'* अर्थात् कहाँ तो यह कि खबरदार, अब चुप रह! और कहाँ अब बार-बार उससे आदरपूर्वक पूछती है—यही पतियाने, दासीके काबूमें जानेके लक्षण हैं। (ख)—*'पुनि पुनि पूछति'* से सूचित हुआ कि रानी उससे पूछती हैं पर वह कहती नहीं; क्योंकि वह कह चुकी है कि *'एकहि बार आस सब पूजी। अब कछु कहब जीभ करि दूजी॥'* इसीसे रानी बार-बार पूछती है। (ग) *'सबरी गान'*...'— शबरी-गान मधुर है, उसमें फाँसी (फंदा) गुप्त है; वैसे ही चेरीका वचन प्रिय है, कपटरूपी फाँसी (फंदा) गुप्त है।

वि० त्रि०—रानीने पहिले उसका बड़ा अनादर किया, जबान बंद कर लेनेकी आज्ञा दे डाली। वह चुप तो हो गयी, पर चुप होनेके पहिले, उसने ऐसी-ऐसी बातें कहीं कि रानीको सुननेकी बड़ी उत्सुकता हो गयी। अब उससे आदरके साथ पूछती हैं तो वह बोलती नहीं। उसे बहुत बातें कहना है, पर विषयके उपोद्घातमें ही रानी नाराज हो गयी। अतः उनकी उत्कण्ठा बढ़ानेके लिये, और इस बातकी सूचनाके लिये कि मुझे जो कुछ कहना है वे ऐसी ही बातें हैं कि जिन्हें तुम घर फोड़नेवाली समझती हो, चुप है। महारानीको अब उसका चुप रहना सह्य नहीं है, अतः बार-बार पूछती है।

'सबरी गान मृगी जनु मोही।' रानीकी उपमा उस मृगीसे दे रहे हैं, जो शबरीके गानपर मोहित हो जाती है। शबरी सङ्गीतशास्त्रानभिज्ञा, भला गाना क्या जाने, पर उसके दोषयुक्त गानपर मृगी मोहित हो जाती है, अपना सुध-बुध खो बैठती है, चाहती है कि वह और भी विस्तारसे गान करे। इसी भाँति रानी मन्थराके दोषयुक्त प्रिय वचनपर मोहित हो गयी है, अपनी विवेकशक्ति खो बैठी है, चाहती है कि मन्थराने जिस विषयका उपोद्घात किया है उसका पूरा वर्णन करे।

नोट—१ बारंबार आग्रहपूर्वक सादर पूछना उत्प्रेक्षाका विषय है। जैसे शबरी फंदा गुप्त रखती है, घात पाकर फाँस लेती है; वैसे ही मन्थरा कपटको गुप्त किये है। जब भिल्लिनी मीठे सुरीले राग अलापती है तब हिरन रागसे मोहित हो आसपास खड़े हो जाते हैं। उन्हें तन-बदनकी सुध नहीं रह जाती, न यह ध्यान रह जाता है कि यह हमें फाँस लेगी और मार डालेगी। उसी तरह रानी मन्थराके गूढ़ कपट-सने हुए ऊपरसे मीठे प्रिय वचन सुनकर मोहित हो गयी है, बारंबार पूछती है उसे यह विचार नहीं है कि इन मीठे वचनोंसे मुझे दुःख उठाना पड़ेगा। मुझे वैधव्य भोगना पड़ेगा और पति और पुत्र दोनों मुझे त्याग देंगे। संसारमें अपयश होगा जो मरणके समान है। इस उत्प्रेक्षाका यह भाव वाल्मी० २। १२। ७७ में श्रीदशरथ महाराजके कैकेयी-प्रति कहे हुए वाक्योंसे स्पष्ट हो जाता है। यथा—'**अनृतैर्बत मां सान्त्वैः सान्त्वयन्ती स्म भाषसे। गीतशब्देन संरुद्ध्य लुब्धो मृगमिवावधीः॥**' अर्थात् झूठे प्रलोभनके वचनोंसे मुझे भुलावा देनेके लिये तुम बातें किया करती थीं जैसे व्याधा मधुर गीतके द्वारा मृगाको लुभाकर मार डालता है वैसे ही तुमने मुझे मारा। (व्याधा लोग हिरनके सींगको घिसकर उसीमें छेद करके उसे बजाते और उससे सुरीले राग अलापते हैं। हिरन रागका बड़ा प्रेमी है।) यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' अलङ्कार है।

टिप्पणी—२ (क) *'तसि मति फिरी अहइ जसि भावी'* इति। मन्थराकी मति तो सरस्वतीके फेरनेसे फिरी और कैकेयीकी मति भावीके अनुकूल फिरी। इस कथनका आशय यह है कि सरस्वती मन्थराकी मति फेरकर लौट गयी। यथा—*'गई गिरा मति फेरि।'* जैसे वह अवधमें मन्थराकी मति फेरनेके लिये आयी थी, वैसे ही फिर उसका कैकेयीकी मति फेरनेके लिये आना ग्रन्थमें नहीं लिखा है। यदि कहें कि एक ही साथ दोनोंकी मति फेरी तो यह निश्चय नहीं होता, क्योंकि जब मन्थराकी मति फिरी तब कैकेयीकी मति अच्छी बनी रही। यह बात प्रसङ्गसे स्पष्ट है। इसीसे भावीका मतिको फेरना लिखते हैं। भावी यह है कि जिस बातपर जीभ निकलवा लेनेको कहा था उसी बातको फिर-फिर सादर पूछती है। [पहले निरादर किया अब क्यों फिर उसी बातको पूछती है, इसका कारण बताते हैं कि *'तसि मति फिरी'''''* अर्थात् भावी जैसी होती है वैसी ही बुद्धि हो जाती है। 'भावी' यथा—*'हरि इच्छा भावी बलवाना।'* (प्र० सं०)] (ख)—*'रहसी चेरि'''''* इति। 'जनु' शब्द देकर उत्प्रेक्षा करनेका भाव यह है कि मन्थरा तो यह समझी कि मेरी घात फबी, मेरे वचनोंका यह प्रभाव हुआ, मेरे कथनसे रानीकी मति फिरी है, इसीसे वह हर्षित हुई; किंतु ऐसी बात है नहीं, उसकी घात नहीं फबी, रानीकी मति उसके फेरनेसे नहीं फिरी है, प्रत्युत भावीवश फिरी है।

तुम्ह पूछहु मैं कहत डेराऊँ। धरेहु मोर घरफोरी नाऊँ॥ ३॥
सजि प्रतीति बहु बिधि गढ़ि छोली। अवध साढ़साती तब बोली॥ ४॥

शब्दार्थ—नाऊँ=नाम। डेराऊँ=डरती हूँ। सजि=सजाकर, अच्छी तरह जमाकर। प्रतीति=विश्वास।

अर्थ—तुम पूछती हो और मैं कहते डरती हूँ। क्योंकि तुमने मेरा नाम 'घरफोरी' रखा है॥ ३॥ बहुत तरहसे अपने अनुकूल बनाकर पाकर अपने ऊपर विश्वास जमाकर, तब अवधके लिये 'साढ़ेसाती' दशारूपिणी मन्थरा बोली॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'तुम्ह पूछहु'''''* इति। *'सादर पुनि पुनि पूछति ओही'* इसीसे कहती है कि *'तुम्ह पूछहु।'* बार-बार प्रेमसे पूछनेपर भी कहती क्यों नहीं? इसके उत्तरमें कहती है—*'मैं कहत डेराऊँ'*। *'कहत डेराऊँ'*—भाव कि जो बात मुझे कहनी है वह घर फोड़नेवाली ही बात है और तुमने कहा है कि अब यदि घर फोड़नेवाली बात कहेगी तो जीभ निकलवा लेंगी, यथा—*'पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी। तब धरि जीभ कढावउँ तोरी॥'* (१४।८) डरती हूँ कि जीभ न निकलवा लो। दूसरे, तुमने मेरा नाम 'घरफोरी' रखा है। मुझे इस कुनाम (कुत्सित नाम) का डर है। क्योंकि जो भी सुनेगा वह मेरी निन्दा करेगा। यह *'धरेहु मोर'''''* का भाव हुआ।

टिप्पणी—२ *'सजि प्रतीति'''''* इति। (क) कैकेयीके हृदयमें प्रतीति कराके अपनी सुहृदता दिखाकर विश्वास कराकर; यथा—*'सुरमाया बस बैरिनिहि सुहृद जानि पतिआनि।'* (१६) (ख) *'गढ़ि छोली'* अर्थात् बात बना चिकनाकर। प्रतीतिकी बात चिकनाकर बोली, आगे इसे चरितार्थ कर दिखाया है। (ग) 'सजकर, गढ़-छोलकर' कहनेका भाव कि मन्थरा जो बुराईकी बातें कहना चाहती है, उनमें कैकेयीजीको प्रतीति न होती; इसीसे उसने बातें खूब बनाकर चिकनाकर कहीं।

नोट—१ *'सजि प्रतीति बहु बिधि'''''* इति (क) 'सजना=सँवारना, दुरुस्त करके ठीक बना लेना। *'प्रतीति सजना'*=अपने ऊपर विश्वास जमाना, विश्वास दृढ़ कराना। किसी लकड़ी-पत्थर इत्यादि सामग्रीको काट-छाँट या ठोंक-ठाँककर कोई कामकी वस्तु बना लेने, वा छील-छालकर दुरुस्त करके, सुडौल बना लेनेको 'गढ़ना' कहते हैं। गढ़कर टेढ़ाई दूर की जाती है, गाँठ आदि निकाली जाती और अपने कामके योग्य लकड़ी इत्यादि बनायी जाती है। लकड़ी आदिको छीलना, खुरचना 'छोलना' कहलाता है। 'गढ़-छोलकर' अर्थात् अपने अनुकूल बनाकर। (ख)—यहाँ प्रतीति सजना, गढ़ना और छोलना तीन बातें कहीं। 'प्रतीति सजना' अपने प्रति है। अर्थात् विश्वासको दृढ़ किया, यथा—*'सुहृद जानि पतिआनि।'* श्रीरामचन्द्रजी, राजा और कौसल्याजी इन तीनोंके प्रतिकूल रानीको बहकाना है, तीनोंमें उसके प्रति शत्रुभाव दर्शित कराना है; इससे *'गढ़ना-छोलना'* इनके विषयमें कहा। *'गढ़ि छोली'* अर्थात् इन सबोंमें जो रानीकी प्रीति थी, उसे छील-छालकर गढ़कर अलग कर दिया। भाव यह कि कपटभरी बातें गढ़-गढ़कर कहीं जिससे विश्वास हो गया कि दासी मेरी सुहृद् है।

नोट—२— मयङ्ककार कहते हैं कि—*'प्रियवादिनि मो सज गई, भरत सपथ मो छोलि। सादर पूछति गढ़ि गई, रही न प्रीती पोलि॥'* कैकेयीने *'प्रियवादिनि'* कहा; इससे मन्थराने अपने विश्वासको सजा दृढ़ किया अर्थात् जान गयी कि मेरी बातें रानीको कुछ अच्छी लगती हैं। पुनः, कैकेयीने भरतकी शपथ देकर पूछा, इससे उसने विश्वासको छीलकर स्वच्छ कर लिया। अर्थात् समझ गयी कि रानी मेरे ऊपर अब कुछ विश्वास करने लगी। पुनः, वह बार-बार सादर पूछने लगी इससे उसका विश्वास गढ़ गया। अर्थात् तैयार हो गया, वह समझ गयी कि बस, अब रानीको मेरा विश्वास हुआ और अब मेरी बातोंमें उसे पोलरहित निष्कपट प्रीति भी हो गयी।

नोट—३ बैजनाथजी लिखते हैं कि मन्थराने वचनोंकी प्रतीति कैकेयीके उरमें सज दी। प्रथम प्रतीति कुडौल थी। तभी तो उसने डाँटा-फटकारा था *'अब रहु अरगानी॥ पुनि अस कबहुँ कहसि'''''।'* उसे बुद्धिरूप बसूलासे तथा *'भलेउ कहत दुख रउरेहि लागा॥'''''कोउ नृप होउ हमहि का हानी। चेरि छाड़ि अब होब कि रानी॥'* अर्थात् भला कहनेपर तुमको दुःख हुआ, कोई राजा हो मैं तो रानी न कहाऊँगी इत्यादि वचनरूपी छेनीसे छोल-गढ़कर सुडौल किया। पुनः, *'अनभल देखि न जाइ तुम्हारा'* तुम्हारा अनभल नहीं देखा जाता इत्यादि वचनरूप खरादद्वारा साफ करके प्रतीति सज ली। अब प्रतीति सुडौल हो गयी है तभी तो वह *'सादर पुनि पुनि पूछति ओही।'*

टिप्पणी—३ *'अवध साढ़साती·····'* इति। जो पूर्व कहा था कि *'हरषि हृदय दसरथ पुर आई। जनु ग्रहदसा दुसह दुखदाई॥'* (१२। ८)। उस 'ग्रह-दशा' को यहाँ स्पष्ट किया कि यह साढ़ेसाती शनिश्चरकी ग्रहदशा है। यह भी सरस्वतीकी छाया है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'तुम्ह पूछहु मैं कहत डेराऊँ। धरेउ मोर घरफोरी नाऊँ॥'* इत्यादि बातें बनाकर पहले रानीके मनपर अपना विश्वास जमाया, और तब कुछ बातें नयी गढ़ लीं, और कुछमें काट-छाँट किया, और बोली। *'रचि प्रपंच भूपहिं अपनाई। रामतिलक हित लगन धराई॥'* इत्यादि बिलकुल नयी गढ़ी हुई बातें हैं। *'रामहि तुम्ह प्रिय यह फुरि बानी॥ रहा प्रथम अब ते दिन बीते'* इत्यादि छोली हुई (काट-छाँट की हुई) वाणी है। पहिले सरस्वतीकी उपमा दुसह दुःखदायी ग्रहदशासे दे आये हैं वह ग्रह-दशा बुधकी महादशा है, जो सत्रह वर्षतक रहती है। उसमेंसे तीन वर्ष बीत गये हैं, चौदह वर्ष शेष हैं, जो वनवासमें बीतेंगे। यहाँपर मन्थराकी उपमा साढ़ेसातीसे दी गयी। मन्थराकी त्रिभङ्गी मूर्ति है और साढ़ेसाती भी तीन अढ़ैयाकी होती है; अतः मन्थराको साढ़ेसाती कहा।

नोट—४ **'साढ़ेसाती'**=[साढ़े+सात+ई (प्रत्यय)।] शनिग्रहकी ७½ मास या ७½ दिन आदिकी दशाको, फलित ज्योतिषके अनुसार जिसका फल बहुत बुरा होता है, *'साढ़ेसाती'* कहते हैं। इसीसे साढ़ेसाती आना मुहावरा है 'दुर्दशा—या विपत्तिके दिन आनेका'। राशिसे जब शनि बारहवें पड़ते हैं तब महादशा आती है और जबतक शनि राशिसे तीसरे नहीं होते तबतक यह दशा रहती है।

बैजनाथजी लिखते हैं कि—मानो अवधको उजाड़नेके लिये साढ़ेसाती शनिश्चरकी दशा है। शनिश्चर चढ़ाव-उतारमें छः मास शान्त रहता है और सात वर्ष दुःखद है। यहाँ स्वपुत्रको राज्य और सवतिपुत्रको वन, दो वचनोंसे १४ वर्ष हुए।

मानस-तत्त्वप्रकाशमें गणपति उपाध्यायजी 'साढ़ेसाती' का भाव यह लिखते हैं कि *'बाहर बोले मंथरा अन्तर सारद जान। साढ़े सात दिवस लगि रहे अवधपति प्रान॥'* अर्थात् साढ़ेसाती कहनेका भाव यह है कि आजसे ७½ दिनपर राजाकी मृत्यु हो जावेगी।

अलङ्कार—*'अवध साढ़साती·····'* में सम अभेदरूपक है।

प्रिय सियरामु कहा तुम्ह रानी। रामहिं तुम्ह प्रिय सो फुरि बानी॥५॥
रहा प्रथम अब ते दिन बीते। समउ फिरे रिपु होहिं पिरीते॥६॥
भानु कमल कुल पोषनि हारा। बिनु जर* जारि करइ सोइ छारा॥७॥
जरि तुम्हारि चह सवति उखारी। रूँधहु करि उपाउ बर बारी॥८॥

शब्दार्थ—**फिरे**=पलटने, बदलने, प्रतिकूल या बुरे होनेपर। **पिरीते**=प्रिय प्यारे मित्र। **पोषनिहारा**=पालने पुष्ट करनेवाला। **छारा**=राख, भस्म। **सवति**=(सं० पत्नी) सौत, सपत्नी।

अर्थ—रानी! तुमने जो कहा कि सीता और राम तुम्हें प्रिय हैं और रामको तुम प्रिय हो, सो सत्य है॥ ५॥ (पर ऐसा) पहले था। वे दिन अब गये। समय फिर जानेपर प्यारे मित्र भी शत्रु हो जाते हैं॥ ६॥ (देखिये) सूर्य कमलके कुलका पोषण करनेवाला है, परन्तु बिना जलके वह उसी कमलको जलाकर राख कर देता है॥७॥ सौत कौसल्या तुम्हारी जड़ उखाड़ना चाहती है। उपायरूपी अच्छी बारी लगाकर उसे रूँधो (उसकी रक्षा करो)॥८॥

टिप्पणी—१ *'प्रिय सियरामु कहा तुम्ह·····'* इति। यथा—*'प्रान तें अधिक राम प्रिय मोरे'* और *'मोपर करहिं सनेहु बिसेखी। मैं करि प्रीति परीक्षा देखी॥'* ये वचन रानीके हैं। कैकेयीका श्रीरामजीपर और श्रीरामजीका

* जल—१७६२, जर—राजापुर, छ०, १७०४, को० रा०। (यहाँ र, ल सवर्गीय होनेसे 'ल' की जगह 'र' रखा है। आगे 'जरि' के साहचर्यसे सम्भवतः यहाँ 'र' रखा है। पर अर्थ 'जल' ही करना होगा। रा० प्र० में 'जड़' अर्थ किया है। पर 'जड़' अर्थ सङ्गत नहीं है।

कैकेयीमें जो प्रेम है, उसे झूठा कहते नहीं बनता, क्योंकि वह सत्य है और फिर उसपर भी कैकेयीजीने कहा है कि *'मैं करि प्रीति परीछा देखी'* इनको एकबारगी कैसे झूठा कहे। इससे युक्तिसे काम ले रही है। [पहले उनके वचनोंका समर्थन करके तब उनका 'परन्तु, किंतु इत्यादि' से युक्तिपूर्वक खण्डन करती है। जूलियससीजरमें ऐंटनीने जब प्रजाको ब्रूटसके प्रतिकूल करना चाहा तब इसी रीतिसे किया था। विरोधीको राहपर लानेका यही ढंग है। एकदम खण्डनसे उपदेश भी बहुत कम लगता है। गोस्वामीजी स्वभाव-निरीक्षणमें कैसे प्रवीण थे!]

टिप्पणी—२—*'रहा प्रथम अब ते दिन बीते।'''* इति। (क) *'रहा प्रथम'* अर्थात् बाल्यावस्थामें प्रीति करते थे, अब वे प्रिय रहनेवाले लड़कपनके दिन गये। लड़कपनमें वात्सल्य रहता ही है। अब तो राजा हो रहे हैं। अब राज्य लेनेका समय है। राज्यके लिये राजा लोग राज्यके जितने कण्टक हैं, उन सबोंका वध करते हैं। यथा—*'तेऊ आजु राजपदु पाई।'''आए करन अकंटक राजू।'* (२२८। ३—५) *'रिपु रिन रंच न राखब काऊ।'* (२२९। २) ये भी वही राजनीति बरतेंगे, उसमें कण्टक समझ दण्ड-नीतिसे काम लेंगे, प्रीतिको दूर कर देंगे। (ख)—*'समउ फिरे रिपु होहिं'''*'—अर्थात् समय पाकर दिन फिरनेपर प्रिय शत्रु हो जाते हैं। यह राजनीति है। यथा—*'सत्रु सयानो सलिल ज्यों राख सीस रिपु नाउ। बूड़त लखि पग डगत लखि चपरि चहूँदिसि धाउ॥'* (दोहावली ५२०) अर्थात् जल नावको मस्तकपर रखता है पर जब उसके डूबनेका समय पाता है तब जल उसे चारों ओरसे दबा लेता है। वैसे ही राज्य मिलनेपर राम करेंगे। तुम्हें दासी बनकर रहना होगा, इत्यादि। जैसा आगे वह कहेगी। (वाल्मी० २। ७। २३) **'नराधिपकुले जाता महिषी त्वं महीपतेः। उग्रत्वं राजधर्माणां कथं देवि न बुद्ध्यसे॥'** का भाव किस खूबीसे *'समउ पाइ'''*' में दरसाया गया है!) [*समउ फिरे*=समयके परिवर्तित, विपरीत वा उलटे होनेसे। *'पिरीते'* (प्रीत=प्रसन्न)प्रिय लोग। जब भाग्य पलटा खाता है, दिन बुरे आते हैं, तब मित्र भी शत्रु हो जाते हैं, यह कहकर इसको दृष्टान्त देकर प्रमाणित करती है। यहाँ 'तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग्य' है।]

नोट—१*'भानु कमल कुल पोषनि हारा'''''* इति।—यह वचन *'यह दिनकर कुल रीति सुहाई'* के उत्तरमें है। यहाँ भानुके स्थानपर रामजी हैं जो *'भानुकुल भानु'* हैं। भरत, कैकेयी और मन्थरा कमलकुल हैं। 'जल' कैकेयी और भरतकी स्वतन्त्रता, वा राज्याधिकार है। भाव यह कि सूर्यका स्नेही कमल है जो सूर्यको देखकर प्रफुल्लित होता है और वियोगमें सम्पुटित हो जाता है, पर देखिये कि वह भी कमलको जल न रहनेपर जला (सुखा) देता है। यथा—*'आपन छोड़ो साथ जब ता दिन हितू न कोइ। तुलसी अंबुज अंबु बिनु तरनि तासु रिपु होइ॥'* (दोहावली। ५३४) यहाँ भानु और कमलका उदाहरण कैसा उत्तम है। कैकेयीने *'दिनकर कुल रीति सुहाई'* कहा, उसी सम्बन्धको लेकर 'दिनकरकी कुरीति और असुहावनता' दिखाती है। सूर्य इस कुलके पुरुषा हैं सो उन्हींको देखो वे अपने परममित्र कमलको जला डालते हैं, यह रीति स्वयं इस कुलके पुरुषा अपने कर्तव्यद्वारा उपदेश करते हैं। अतः भरतको राज्य न मिलनेपर उनके और तुम्हारे साथ यही बर्ताव होगा।

बैजनाथजी लिखते हैं कि 'पति-नेह जल है तबतक राम भानुसम पोषक हैं, जब तुम राज्यहीन होगी तब राम ही शत्रु हो जायँगे।'

टिप्पणी—३ *'भानु कमल'''*' इति। भाव कि सूर्य बिना जलके कमलकुलका नाश करता है तब भानुकुल बिना जलवालेको नाश क्यों न करेगा? देखिये, मन्थरा *'भानु कमल कुल पोषनि हारा'* कहकर प्रथम कैकेयी-की बात (*'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥'*) का समर्थन करती है और फिर *'बिनु जल जारि'''''* से अपनी बात सिद्ध करती है। कैकेयीने 'दिनकर कुल' की बड़ाई की, इसीपर मन्थरा कहती है कि सूर्यकी यह करनी है कि अपने स्नेहीको जला डालता है; तब सूर्यकुलके लोग वैसी ही करनी क्यों न करेंगे? अतः (ख) —*'जरि तुम्हारि चह सवति उखारी'* अर्थात् सौतिया भावसे वह तुम्हारी जड़ उखाड़ना चाहती है जिसमें रामरूपी भानु तुम्हारी जड़रूप भरतको क्षार कर दें?

नोट—२ *'जरि तुम्हारि चह सवति उखारी'''''* इति।—*'राजहिं तुम्ह पर प्रेमु बिसेषी। सवति सुभाउ सकइ नहिं देखी॥'* जो आगे कह रही है वही अभिप्राय यहाँ भी है। तुमपर राजाका विशेष प्रेम है

इसीसे तुम कौसल्याकी सेवा नहीं करती जिससे कौसल्याको ईर्ष्या है; इसीसे वह अपने पुत्रको राज्य दिला रही है। ध्वनि यह है कि राज गया और भरतको राज्य न मिला तो तुम्हारा अधिकार गया, तुम रानी रह नहीं सकती, तुम्हें भी सौतकी सेवा तब करनी ही पड़ेगी। राज्य ही जड़ है। जब जड़ ही उखड़ जायगी तो राजाका स्नेह-बलरूपी वृक्ष भी न रह जायगा और उसके आश्रित जो तुम्हारा गर्व है वह भी न रहेगा।

'बारी' (अवार—सं०) बगीचे, खेत आदिके चारों ओर रोकके लिये बनाया हुआ घेरा, बाढ़, पेड़ोंका समूह या वह स्थान जहाँसे पेड़ लगाये गये हों। रूँधना=बाढ़ लगाना, कँटीले झाड़ आदिसे घेरना।

अर्थात् कौसल्या तुमको अपनी दासी बनाना चाहती है। उसके रोकनेका उपाय एक ही है कि तुम चारों ओरसे कँटीले झाड़ लगा दो अर्थात् राज्य भरतको दिलाकर रामराज्य रोको और भरतराज्यकी रक्षा रामवनवाससे करो। रामको वनवास देना ही काँटेदार झाड़से घेरना है। जो जड़से वृक्षको उखाड़ना चाहता है, वह जब देखेगा कि यहाँ तो काँटे गड़ेंगे तब वह अपनी ही खैरियत मनायेगा, वृक्ष बच जायगा। इसी प्रकार कौसल्या स्वयं विपत्तिमें पड़ जायँगी। तुम्हारी जड़ तो फिर बची-बचायी ही है। (पंजाबीजी)

टिप्पणी—३ *'रूँधहु करि उपाउ बर बारी'* इति। मन्थराके हृदयमें रामवनवासकी जो वासना है उसे वह इन शब्दोंमें मूँदे—छिपाये हुए कह रही है कि जड़को *'बर बारी'* से उपाय करके रूँध दो। श्रेष्ठ बारीमें हाथ डालकर यदि कोई पौधेको उखाड़ना चाहता है तो काँटे उसके हाथमें चुभ जाते हैं, इस डरसे फिर कोई उसे नहीं उखाड़ता। इस वर (रूपी) बारीसे कौसल्याको कष्ट होगा, वह तुम्हारी जड़ नहीं उखाड़ सकतीं। भरतराज्यसे तुम्हारी जड़ पुष्ट होगी। अभी यह जड़ पुष्ट नहीं है, अभी उखाड़ी जा सकती है। इसीसे तुम्हारी सौत उसे उखाड़नेका उपाय कर रही है। तुम शीघ्र *'बर बारी'* से रूँधकर उसकी रक्षा करो। उपाय आगे स्वयं बताती है—*'भामिनि करहु त कहौं उपाऊ।'* (२१। ८)

वीरकवि—मन्थराने पहले विशेष बात कही कि समय फिरनेपर मित्र भी शत्रु हो जाते हैं। फिर इसका साधारण दृष्टान्तसे समर्थन करती है कि *'भानु कमल कुल''''बिनु जल जारि करइ सोइ छारा।'* इतनेपर भी सन्तुष्ट न होकर *'जरि तुम्हारि''''बर बारी'* इस विशेष सिद्धान्तसे उसका समर्थन करती है। अतः यहाँ 'विकस्वर अलङ्कार' है।

नोट—३ ऐसा ही सुभाषितरत्नभाण्डारमें भी कहा है। यथा—'**येनाञ्चलेन सरसीरुहलोचनायास्त्रातः प्रभूतपवनादुदये प्रदीपः। तेनैव सोऽस्तसमयेऽस्तमयं विनीतः क्रुद्धे विधौ भजति मित्रममित्रभावम्॥**' (२। ७७) '**वनानि दहतो वह्नेः सखा भवति मारुतः। स एव दीपनाशाय कृशे कस्यास्ति सौहृदम्॥**' (३। १२०) अर्थात् विधाताके रुष्ट होनेपर मित्र भी विपरीत हो जाते हैं, जैसे दीपके उदय समय स्त्रियाँ अपने अञ्चलद्वारा उसकी वायुवेगसे रक्षा करती हैं और अस्त (बुझने) के समय उसी अञ्चलसे उसे बुझा देती हैं॥ ७७॥ वनको जलाते देख पवन अग्निका सहायक होता है, पर वही पवन दीपको कृश देखकर उसको बुझा देता है। सच है कि कृशका सुहृद् कोई नहीं होता॥ १२०॥

दो०—तुम्हहि न सोचु सोहाग बल निज बस जानहु राउ।
मन मलीन मुँह मीठ नृपु राउर सरल सुभाउ॥ १७॥

शब्दार्थ—**सोहाग**=(सं० सौभाग्य) अच्छा भाग्य, अहिवात, पतिका स्नेह। **मुँह मीठ**=मुँहके मीठे, ऊपरसे चिकनी-चुपड़ी बातें करनेवाले। **सरल**=सीधा-सादा, निश्छल, कपटरहित, यथा—*'सरल सुभाउ छुआ छल नाहीं।'*

अर्थ—आपको अपने सुहागके बलसे कुछ भी सोच नहीं है, आप राजाको अपने वशमें समझती हैं। (पर) राजा मनके मैले और मुँहके मिठबोले हैं, आपका स्वभाव सीधा-सादा है॥ १७॥

टिप्पणी—१ (क) *'तुम्हहिं न सोच'*—भाव यह है कि समय सोच करनेका है पर तुमको सोच नहीं। (आशय यह है कि रामको युवराज हो जानेसे तुम्हारा ऐसा विनाश होगा कि जिसका प्रतीकार न हो सके। यथा— *'अक्षयं सुमहद्देवि प्रवृत्तं त्वद्विनाशनम्।'* (वाल्मी० २। ७। २०) सोहागबल अर्थात् पतिका बल कि राजा

हमारे वशमें हैं। (इसमें भाव यह है कि तुम्हें अपने सौन्दर्यका, अपने पतिप्रिया होनेका गर्व है, इसीसे तुम्हें कुछ भी चिन्ता नहीं है। पर यह तुम्हारा सौभाग्य अनिश्चित है, रामके युवराज होनेपर न रह जायगा, जैसे ग्रीष्म-ऋतुमें नदीका स्रोत अनिश्चित हो जाता है। यथा—'**न जानीषेऽतिसौन्दर्यमानिनी।**' (अ० रा० २। २। ५३) '**अनिष्टे सुभगाकारे सौभाग्येन विकत्थसे। चलं हि तव सौभाग्यं नद्याः स्रोत इवोष्णगे॥**' (वाल्मी० २। ७। १५) (ख) *'निज बस जानहु राउ'*—अर्थात् तुम ऐसा समझती हो पर वे तुम्हारे वशमें हैं नहीं। इसीको उत्तरार्धमें स्पष्ट करती है। (भाव कि वे तुम्हारे पास सोते हैं, तुम्हारे महलमें रहते हैं, इससे तुम उन्हें अपने वशमें जानती हो, पर वे हैं कौसल्याके वशमें, तुम्हारे वशमें नहीं। यथा—'**सुभगा किल कौसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते। यौवराज्येन**''॥' (वाल्मी० २। ८। ९)

टिप्पणी—२ (क) *'मन मलीन'* अर्थात् वे तुमसे अपने मनकी एक बात भी नहीं प्रकट करते, उनके मनमें कपट है। *'मुँह मीठ'* अर्थात् ऊपरसे मीठी-मीठी चिकनी-चुपड़ी बातें करके आपको रिझाये रहते हैं। (ख) *'राउर सरल सुभाउ'*—आप भोली-भाली हैं इसीसे उनकी बातोंमें आ जाती हैं, उनकी कपटपूर्ण बातोंको नहीं समझ पातीं और उनपर विश्वास कर लेती हैं। आगेके वचनोंमें उत्तरार्धको पुष्ट और स्पष्ट करती है।

नोट—उत्तरार्धके भावके श्लोक, यथा—'**धर्मवादी शठो भर्ता श्लक्ष्णवादी च दारुणः। शुद्धभावेन जानीषे तेनैवमतिसन्धिता॥**' (वाल्मी० २। ७। २४) *'त्वां तोषयन् सदा राजा प्रियवाक्यानि भाषते।'* (अ० रा० २। २५८)

चतुर गँभीर राम महतारी। बीचु पाइ निज बात सँवारी॥ १॥
पठये भरतु भूप ननिअउरे। राम मातु मत जानब रउरे॥ २॥
सेवहिं सकल सवति मोहि नीके। गरबित भरतमातु बल पी के॥ ३॥
सालु तुम्हार कौसिलहि माई। चतुर कपट नहिं होइ जनाई*॥ ४॥

शब्दार्थ—**बीचु**=मौका, अवसर। **सँवारी**=अच्छी तरह बना ली, बंदिश बाँधी। **ननिअउरे**=(नानालय) नानाका घर, ननिहाल। **रउरे**=आप। **नीके**=भलीभाँति, अच्छी तरह। **पी**=(सं० प्रिय) पिय, पति। **सालु**=(हिं० सलना या सालना) दुःख; पीड़ा; काँटा-सा खटकना; कसक। **गँभीर**=गहरी जिसकी थाह न मिले। '**मत**=सलाह सम्मति, राय। **जानब**=जानिये, समझिये। **जनाई**=प्रकट होनेका भाव, लख पड़ना।

अर्थ—रामकी माता कौसल्या चतुर और गम्भीर हैं। मौका पाकर उन्होंने अपनी बात अच्छी तरह बना ली (अपना मतलब गाँठा)॥ १॥ राजाने (जो) भरतजीको ननिहाल भेजा है, इसमें आप रामचन्द्रकी माँकी सलाह समझिये॥ २॥ (कौसल्याजी सोचती हैं कि) सब सौतें तो मेरी भली प्रकार सेवा करती हैं। (पर) भरतकी माँ पतिके बलपर गर्वित (घमण्डमें चूर, घमण्डमें भरी) रहती हैं॥ ३॥ (इसीसे) हे माई! कौसल्याको तुम्हीं खटक रही हो। वे कपटमें चतुर हैं, इससे उनका कसक सौतियाडाह जान नहीं पड़ता॥ ४॥

नोट—१ रामचन्द्रजी, राजा और कौसल्या इन तीनोंकी ओरसे जब रानीका मन खट्टा पड़ेगा तभी काम चलेगा। अतः पहले रामजीकी ओरसे इस प्रकार प्रेम हटाया कि *'समउ फिरे रिपु होहिं पिरीते। भानु कमल कुल पोषनि हारा।'* अब राजा और रानीमें बिगाड़ कराती है, इस तरह कि राजा मुँहके मीठे हैं पर मनके कपटी हैं और कौसल्याकी निगाहमें तुम सदा ही खटकती रहती हो, क्योंकि और सब रानियाँ तो उनकी सेवा करती हैं, एक तुम ही सौभाग्यके बलसे उनकी सेवा नहीं करती हो।

टिप्पणी—१ '**चतुर गँभीर राम महतारी**' इति। चतुर और गम्भीर कहकर फिर उसका स्वरूप दिखाती है चतुर हैं अतएव अपना काम सुधारती-साधती हैं (भरतके बाहर जाते ही अपना मतलब गाँठा)। गम्भीर हैं, अतः उनका कपट खुलता नहीं, कोई लख नहीं पाता। यथा—'**कपट चतुर नहिं होइ जनाई।**' '**बीचु पाइ**'—भरतके ननिहाल चले जानेपर यथा—'**पठये भरत भूप ननिअउरे**', यही '**बीचु**' है। [भाव कि भरतजीके बाहर रहनेसे

* 'कपट चतुर नहिं होइ जनाई' काशिराज और गौड़जीकी प्रतियोंमें है। प्र० सं० में 'चतुर कपट नहिं परइ लखाई' [illegible] प्रे० की पोथीसे निश्चित होता है कि 'कपट चतुर नहिं होइ जनाई' राजापुरकी पोथीका पाठ है।

राजाका प्रेम रामपर बढ़ता गया, भरतपर प्रेम न रह गया। भरत यहाँ होते तो राजाका उनपर प्रेम होता, कौसल्याको स्वार्थसाधनका अवसर न मिलता। यह भाव वाल्मी० । २। ८ के '**बाल एव तु मातुल्यं भरतो नायितस्त्वया। संनिकर्षाच्च सौहार्दं जायते स्थविरेष्विव॥**' (२८) अर्थात् तुमने भरतको बाल्यावस्थामें ही मामाके यहाँ भेज दिया, यह बुरा किया। साथ रहनेसे जड़पर भी मनुष्यका प्रेम हो जाता है—इस उद्धरणसे निकलता है। '*राम महतारी*'—भाव कि जैसे राम राजनीतिमें चतुर और गम्भीर हैं, समयपर अपना काम निकालना जानते हैं, वैसी ही उनकी माताको होना ही चाहिये। यह भाव वाल्मी० २। ८ के '**विदुषः क्षत्रचारित्रे प्राज्ञस्य प्राप्तकारिणः। भयात्प्रवेपे रामस्य चिन्तयन्ती तवात्मजम्॥**' (८) इस वचनसे निकलता है।]

टिप्पणी—२ '*पठये भरतु भूप*⋯' इति। पहले रामकी शिकायत की, फिर राम-माताकी और अब राजा और रानी दोनोंका कपट प्रत्यक्ष दिखाती है। भाव कि कपट न होता तो भरतको अवश्य बुलाते। उनके यहाँ न रहनेपर राज्याभिषेक करना अनुचित है। (इससे स्पष्ट है कि राजा तुमसे ऊपरसे मीठी-मीठी बातें करते हैं। भीतरसे राममाता ही उनको प्रिय हैं, इसीसे वे कौसल्याको प्रसन्न करनेके कार्य किया करते हैं। अपने मनमें ऐसा रखकर ही उन्होंने तुम्हारे पुत्रको मामाके यहाँ भेज दिया। यथा—'**त्वां वाचा परितोषयन्। कार्यं करोति तस्या वै राममातुः सुपुष्कलम्॥**' (५) **मनस्येतन्निधायैव प्रेषयामास ते सुतम्। भरतं मातुलकुले प्रेषयामास सानुजम्॥**' (अ० रा० २। २। ६०) अतः यह निश्चय जानिये कि राममाताकी सलाहसे भेजा है। ☞ मन्थराको यह झूठ बनानेका मौका भरतकी अनुपस्थितिके आधारपर मिल गया। नहीं तो भरत तो मामाके बहुत आग्रह करनेपर कैकेयी आदिकी सम्मतिसे भेजे गये थे। यह पूर्व लिखा जा चुका है। '*राममातु मत*' होनेकी पुष्टि आगेके वचनोंसे भी कर रही है। '*राममातु*' में भी वही भाव है कि जैसे राम हैं वैसी ही उनकी माता हुआ ही चाहें। पुनः भाव कि वे रामकी माता हैं, अतः रामके युवराज्यके लिये उपाय करती हैं और तुम भरतकी माता होकर भी भरतको दास बनाना चाहती हो, यथा—'*जेठ स्वामि सेवक लघु भाई।*' राममातुने क्यों वैर किया इसका कारण आगे कहती है। पूर्व जो कहा था कि '*पूत बिदेस न सोच तुम्हारे*' उसका अभिप्राय यहाँ खोल दिया।

टिप्पणी ३—'*सेवहिं सकल सवति मोहि*⋯' इति। (क) कौसल्याजी जेठी और पटरानी हैं। इसीसे सब सौतें धर्म विचारकर उनकी सेवा करती हैं। मन्थराने इस धर्ममें भी कपट निकाला कि सब रानियाँ दासीभावसे उनके वशमें हैं और उनकी सेवा करती हैं। (कुबड़ी ईर्ष्या बढ़ानेके विचारसे इस सेवामें दासित्व जना रही है।) तुम सेवा करने नहीं जाती हो, अतः तुमको गर्वित जानती हैं। (ख) '*सालु तुम्हार*⋯⋯' इति। पूर्व राजाके विषयमें कहा कि '*लखहु न भूप कपट चतुराई*' यहाँ कौसल्याजीके सम्बन्धमें '*कपट चतुर नहिं होइ जनाई*' कहा। इस तरह दोनोंको कपटमें चतुर बताया। तुम उनकी सेवा नहीं करती हो, यही 'शाल' (कसक) उनके हृदयमें है। (ग) '*कौसिलहि*' अर्थात् और किसीको नहीं है, केवल कौसल्याको है। [(घ) सम्भवतः कैकेयी भी कहें कि मैंने तो कभी पतिप्रिया होनेका गर्व किया नहीं तो उसपर आगे कहती है कि '*राजहि तुम्ह*⋯' (पु०)] ☞ '*सजि प्रतीति बहुबिधि गढ़ि छोली*' जो ऊपर कहा है वह गढ़ना, छोलना, सीधा करना यहाँतक दिखाया।

राजहि तुम्हपर प्रेम बिसेषी। सवति सुभाउ सकइ नहिं देखी॥५॥
रचि प्रपंचु भूपहि अपनाई। राम तिलक हित लगन धराई॥६॥
यह कुल उचित राम कहुँ टीका। सबहिं सोहाइ मोहि सुठि नीका॥७॥
आगिलि बात समुझि डर मोही। देउ दैउ फिरि सो फलु ओही॥८॥

शब्दार्थ—'*सकइ नहिं देखी*'=नहीं देख सकती, यह मुहावरा है। 'बुरा लगता है' इसका भाव है। **रचना**=युक्ति करना, आयोजन करना। **रचि**=रचकर। **प्रपंचु**=माया। **लगन धराई**=लग्न वा मुहूर्त निश्चित कराया या ठहराया है। लग्न धराना मुहावरा है। विवाहमें लग्न निश्चित होकर वरके पिताके यहाँ भेजी जाती है। वह उसे पुरोहित आदिके यहाँ रखा देता है। इसीसे 'लग्न धराना' यह मुहावरा पड़ा। **अपनाई**=अपनाकर, वश

वा काबूमें करके। **सुठि**=(सुष्ठि)=अत्यन्त, बहुत ही। **आगिलि**=अगली, आगेकी। **दैउ**=दैव, विधाता, ईश्वर। **फिरि**=फिरकर, विपरीत होकर। **ओही**=उसीको, उसे ही।

अर्थ—राजाका तुमपर बहुत प्रेम है। कौसल्या सौत-स्वभावसे उसे नहीं देख सकती॥ ५॥ (इसलिये) मायाका जाल फैलाकर राजाको अपना करके उन्होंने रामचन्द्रजीके राजतिलकके लिये मुहूर्त्त निश्चित करा लिया॥ ६॥ इस कुलमें रामचन्द्रजीको तिलक होना उचित है, सभीको सुहाता है और मुझे तो बहुत ही अच्छा लगता है॥ ७॥ (परन्तु) आगेकी बात विचारकर मुझे डर लगता है। हे विधाता! यही फल उलटकर उसीको दो। (वा, वह फल दैव फिरकर उन्हींको दे)॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'राजहि तुम्हपर प्रेम बिसेषी'''* इति। (क) **बिसेषी—**भाव कि प्रेम तो सब रानियोंपर है पर तुम्हारे ऊपर राजाका विशेष प्रेम है। *'सवति सुभाउ''''*—एक कसक तो यह दिखायी कि तुम उनकी सेवा नहीं करती। अब दूसरी कसक यह बताती है कि राजाका तुमपर सबसे अधिक प्रेम है। सौतिया स्वभावसे उनको यह बुरा लगता है। भाव कि तुमने उनके साथ कोई बुराई नहीं की, उनका कुछ बिगाड़ा नहीं है, पर सौतिया स्वभाव ही ऐसा होता है कि वैर मानती हैं। (ख) शङ्का—ऊपर तो कह आयी कि *'मन मलीन मुँह मीठ नृप'* तब यहाँ यह कैसे कहती है कि *'राजहि तुम्हपर प्रेम बिसेषी'* ? समाधान—मन्थराके कथनका अभिप्राय यह है कि तुमपर प्रेम तो बहुत करते हैं, पर तुम्हारे वशमें नहीं हैं और तुम उनको अपने वशमें जानती हो। (अथवा तुमपर विशेष प्रेम था, पर अब सौतने अपने वशमें कर लिया है, अब ऊपर दिखावका प्रेम है।)

नोट १—उपर्युक्त चौपाइयोंमें भाव यह है कि पहले तुमने अपने पतिप्रिया होनेके गर्वसे राममाताका तिरस्कार किया है। कौसल्या तुम्हारी सौत हैं तब भला वे तुम्हारे वैरका बदला क्यों न लेंगी। यथा—**'दर्पान्निराकृता पूर्वं त्वया सौभाग्यवत्तया। राममाता सपत्नी ते कथं वैरं न यापयेत्॥'** (वाल्मी० २। ८। ३७)

टिप्पणी—२ (क) *'रचि प्रपंचु'*—अर्थात् *'राजहि तुम्हपर प्रेमु''''देखी'*, अतः उन्होंने प्रपञ्च रचकर राजाको अपने वशमें कर लिया। प्रपञ्च यह रचा कि भरतको ननिहाल भेजवा दिया जिसमें भरतमें राजाका प्रेम न रहे। यदि ऐसा न होता तो वे राजासे भरतको बुला भेजनेको कहतीं। वह जानती हैं कि भरत ही एक कंटक रामके युवराज होनेमें हैं, इसीसे उन्हें अवधसे बाहर करा दिया। फिर राजासे कहा होगा कि कुलरीति, धर्मशास्त्र और राजनीतिसे ज्येष्ठ पुत्रको ही राज्य मिलना चाहिये, सारी प्रजा रामको चाहती है। आप धर्मात्मा हैं, उस रीतिका उल्लङ्घन कैसे करेंगे। इत्यादि रीतिसे राजाको समझा-बुझाकर रामके अभिषेकके लिये मुहूर्त भी निश्चित करा लिया और तुमको किञ्चित् पता नहीं। तुमसे सब बात छिपायी गयी है। कल ही तो तिलक है। (ख) *'भूपहि अपनाई'*—भाव कि अब तुम्हारे वशमें राजा नहीं हैं, तुम जानती भर हो कि तुम्हारे वशमें हैं, वशमें तो कौसल्याके हैं।

टिप्पणी ३—*'यह कुल उचित''''''* इति। (यह *'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुलरीति सुहाई॥'* तथा *'प्रान तें अधिक राम प्रिय मोरे।'* के सम्बन्धसे कह रही है कि ठीक है राम बड़े हैं उनको युवराज होना चाहिये। राजाके सभी लड़के अधिकार नहीं पाते। यदि सभीको राज्याधिकार दिया जाय तो महान् अन्याय हो जाय। यथा—**'नहि राज्ञः सुताः सर्वे राज्ये तिष्ठन्ति भामिनि। स्थाप्यमानेषु सर्वेषु सुमहाननयो भवेत्॥'** (वाल्मी० २। ८। २३) अतः रामका राजा होना उचित है) *'मोहि सुठि नीका'*—अर्थात् राम आपको प्राणोंसे अधिक प्रिय हैं और मैं आपकी दासी हूँ, अतः वे मुझे भी प्रिय हैं और उनका युवराज होना मुझे भी अत्यन्त अच्छा लगता है। (अर्थात् मुझे रामसे ईर्ष्या वा द्वेष किञ्चित् भी नहीं है। इस तरह पहले रानीके वचनका समर्थन करके आगे अपने क्षोभका कारण बताती है। पंजाबीजी इस चौपाईके—*'रामतिलक जौं साँचेहु काली। देउँ माँगु मन भावत आली।'* का उत्तर कहते हैं।)

टिप्पणी ४— *'आगिलि बात समुझि''''''* इति। यह *'तिन्हके तिलक छोभ कस तोरें'* तथा *'हरष समय बिसमय करसि कारन मोहि सुनाउ'* कैकेयीके इस वाक्यका उत्तर दे रही है। यह कारण विस्मयका बताती

है। क्या डर है सो आगे कहेगी कि—'*रामहिं तिलक कालि जो भयऊ। तुम्ह कहँ बिपति बीजु बिधि बयऊ॥*' से'*तौ घरु रहहु न आन उपाई*' तक। पूर्वार्धमें रामतिलकको अच्छा कहकर फिर उत्तरार्धमें उसका निषेध करनेसे यहाँ 'उक्ताक्षेप अलङ्कार' है।

नोट—२ वाल्मीकीय २। ८। २२ के '**भविता राघवो राजा राघवस्य च यः सुतः। राजवंशात्तु भरतः कैकेयि परिहास्यते॥**' (अर्थात् राघव रामजी राजा होंगे तो उनके पीछे उनके पुत्र राजा होंगे। इस प्रकार भरतजी तो राजवंशसे सदैवके लिये निकाले गये) इस कथनको '**आगिलि बात**' में गोस्वामीजीने कह दिया।

टिप्पणी ५— '*देउ दैउ फिरि सो फलु ओही*' इति। पूर्व कहा था कि '*भयउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन।*' अब कहती है कि वही विधाता उनसे फिर जायँ और '*तुम्हें अति दाहिन*' हो जायँ। यह आशिष कैकेयीको देती है और विपत्ति आदि फल कौसल्याको विधाता दें—जो कौसल्याने तुम्हें देना चाहा था अर्थात् वे तुम्हारी दासी होकर रहें, दूधकी मक्खी-सरीखी निकाली जायँ, पुत्रसहित तुम्हारी सेवा करें। यह शाप कौसल्याको दे रही है। (कथनका आशय यह है कि तुम ऐसी सीधी-सादी, भोली-भालीके साथ कपट-छलका व्यवहार किया अतः उन्हींको इसका फल मिले।)

दो०—रचि पचि कोटिक कुटिलपन कीन्हेसि कपट प्रबोधु।
कहिसि कथा सत सवति कै जेहि बिधि बाढ़ बिरोधु॥ १८॥

शब्दार्थ—**रचि पचि**—यह मुहावरा है, बा० २८८ (४) देखिये। **रचि**=गढ़कर, बनाकर। **पचि**= पचा वा बैठाकर। **रचि पचि**= भलीभाँति गढ़कर, बैठाकर या जमाकर। **कोटिक**=करोड़ों, मुहावरा है अर्थात् बहुत-सी, कितनी ही। **सत**=सौ, सैकड़ों अर्थात् बहुत-सी। **बाढ़**=बढ़े। **बिरोध**=वैर, शत्रुता। **कुटिलपन**=खोटाई, कपट, छल, कुटिलता, धूर्तता।

अर्थ—कितनी ही कुटिलपनकी बातें गढ़कर मन्थराने कैकेयीको कपटका पूर्ण ज्ञान कराया और सैकड़ों सौतोंकी कथाएँ कहीं, जिनसे वैर बढ़े॥ १८॥

नोट—बैजनाथदासजी और प्रोफे० दीनजी दोहेके पूर्वार्धका भावार्थ यह लिखते हैं—'मन्थराने कितने ही कुटिलपनेकी बातें कैकेयीके हृदयमें बैठाकर कपटद्वारा प्रबोध किया (समझाया)…।' बैजनाथजी लिखते हैं कि 'पूर्व कैकेयीके हृदयमें सीधापन था। उसको सौतियाडाहरूपी बसूला और ईर्ष्यारूपी रुखानीद्वारा निकालकर उसके स्थलमें कुटिलपन अर्थात् वैरकी बातें भलीभाँति कसकर ठोंक दीं। कपटमय वचनद्वारा समझाकर कुटिलताका दृढ़ करना यही पच देना है।'

टिप्पणी—१ (क) '*रचि पचि*……'— रचकर परिश्रम करके करोड़ों कुटिलपन (की बातोंसे) कपटका प्रबोध कराया। पूर्व कहा था कि '*सालु तुम्हार कौसिलहि माई। कपट चतुर नहिं होइ जनाई।*' अर्थात् कौसल्याका कपट उनकी चतुरताके कारण कोई जान नहीं पाता था। उसी कपटका उसने कैकेयीको प्रकर्ष बोध कराया। भलीभाँति उस कपटका पूर्ण ज्ञान करा दिया। ['*सजि प्रतीति बहु बिधि गढ़ि छोली*' कहकर जिस कुटिलपनका उपक्रम किया था, उसीका उपसंहार '*रचि पचि कोटिक कुटिलपन*……' कहकर करते हैं; क्योंकि अब रानीको कपटका प्रबोध हो गया, नहीं तो पहले वह कपट जानती ही न थी। (पं० विजयानन्द त्रिपाठी)] (ख) '*कहिसि कथा*……' इति। '*सवति सुभाउ सकइ नहिं देखी*' यह जो ऊपर कहा था उसके पुष्ट करनेके लिये सौतोंकी कथाएँ कह सुनायीं। '*जेहि बिधि बाढ़ बिरोधु*' भाव कि बहुत-सी सौतोंकी ऐसी भी कथाएँ हैं कि जिनसे परस्पर प्रेम हो; ऐसी कथाएँ उसने नहीं कहीं, परं च वे कथाएँ कहीं जिनसे विरोध बढ़े। (अम्बरीष महाराजकी रानियाँ छोटी रानीकी भक्तिको देखकर भक्त हो गयीं, जिससे अम्बरीष महाराजका प्रेम सबपर एक-सा हो गया। इसी तरह पुराणोंमें अनेक सती स्त्रियोंकी कथाएँ मिलती हैं जिन्होंने सौतसे बड़ा प्रेम किया है।)

नोट—'*सत सवति कै*'—चित्रकेतुकी रानियोंकी कथा— बा० ७९ (२) '*चित्रकेतु कर घर उन्ह घाला*' देखिये। उत्तानपादकी रानियों सुरुचि-सुनीतिकी कथा—२६ (५) '*ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊँ*' देखिये। चन्द्रमाके २७ स्त्रियाँ थीं। जब वह रोहिणीपर रीझा तब सबने ईर्ष्यावश हो दक्षसे उसको शाप दिलाया। '*घटै बढ़ै बिरहिनि*

दुखदाई।' (१। २—३८। १) में देखिये। कद्रू-विनता इत्यादिकी कथाएँ सुनायीं। कद्रू-विनताकी कथा आगे दोहेमें है।

भावी बस प्रतीति उर आई। पूछ रानि पुनि सपथ देवाई॥ १॥
का पूछहु तुम्ह अबहुँ न जाना। निज हित अनहित पसु पहिचाना॥ २॥
भयउ पाखु दिन सजत समाजू। तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू॥ ३॥

शब्दार्थ—अनहित=बुरा। पसु=जानवर।

अर्थ—होनहारवश कैकेयीके हृदयमें (मन्थरापर) विश्वास जम गया। तब रानी फिर शपथ दिलाकर पूछने लगी॥ १॥ (मन्थरा बोली)—क्या पूछती हो? अरे! तुमने अब भी न समझा? अपना भला-बुरा (अर्थात् मित्र और शत्रुको) तो पशु भी पहचान लेते हैं॥ २॥ तिलकको तैयारी होते हुए एक पखवारा हो गया और तुमने आज मुझसे खबर पायी॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'भावी बस प्रतीति'''''* इति। (क) पूर्व भावीवश बुद्धिका फिरना, भ्रष्ट होना कहा था, यथा—*'तसि मति फिरी अहइ जसि भावी।'* (१७। २) अब विश्वासका होना भी भावीवश कहते हैं—*'भावी बस''।'* भाव यह कि मन्थराके कहनेसे न तो बुद्धि फिरी थी और न प्रतीति ही आयी। भावीसे ही प्रथम बुद्धि नष्ट हुई फिर प्रतीति हुई। मन्थराका प्रतीति सजना पूर्व कहा गया; यथा—*'सजि प्रतीति बहु बिधि गढ़ि छोली।'* (१७। ४) उसीको यहाँ *'प्रतीति उर आई'* से चरितार्थ किया। (ख)—*'पूछ रानि पुनि सपथ देवाई'*—पहले भी एक बार उन्होंने भरतकी शपथ देकर पूछा था। यथा—*'भरत सपथ तोहि सत्य कहु परिहरि कपट दुराउ।'* (१५) अब फिर भरतकी शपथ देकर पूछती है। अतः *'पुनि सपथ देवाई'* कहा। (*'पुनि'* से जनाया कि इस बार भी भरतकी शपथ दी। रा० प्र० का मत है कि अपनी शपथ दी, इसीसे यहाँ केवल *'सपथ'* शब्द दिया।)

वि० त्रि०—पहले रानीके मनमें मन्थराके कुटिल-कुचाली होनेकी भावना उठी, यथा—*'काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि। तिय विशेष पुनि चेरि कहि भरत मातु मुसकानि॥'* उसे उसने *'गूढ कपट प्रिय'* वचन कहकर दूर किया, रानीने समझ लिया कि यह सुहृद् है। विश्वास योग्य है। परंतु कौसल्या और कैकेयीमें बड़ा प्रेम था, यथा—*'कबहुँ न कियेउ सवति आरेसू। प्रीति प्रतीति जान सब देसू॥'* तो इस साढ़ेसातीने रानीकी ऐसी बुद्धि बिगाड़ी कि अब उसे कौसल्याके विरोधी होनेका विश्वास हो गया। इतने दिनोंकी प्रीति-प्रतीतिका एक दासीके सुझावपर क्षणभरमें नष्ट होना असम्भव था, पर *'तस मति फिरी अहै जस भावी।'* रानी भावीके वशमें है, उसे विश्वास हो गया। अब वह पूछती है कि वह अगली बात कौन-सी है, जिससे तुझे डर हो रहा है?

परंतु मन्थरा बड़ी सावधान है, वह रानीके मनको पहिले ऐसी अवस्थामें ला देती है, जिसमें विवक्षित बात जम जाय, तब बोलती है, *'आगिल बात समुझि डर मोही। देउ दैउ फिरि सो फल ओही॥'* इतना कहकर सौ सौतिकी कथा कहने लगती है, डरवाली बात नहीं खोलती। जब रानीने फिर भरतका शपथ दिलाया तब बोली।

टिप्पणी—२ *'का पूछहु'''''*—भाव कि पशुमें ज्ञान नहीं होता तो भी वे जान लेते हैं कि कौन उनका हितू है और कौन शत्रु। हितको पहचानकर उसके पास जाते हैं और 'अनहित' को देखकर भागते हैं और तुम तो मनुष्य हो, मनुष्य-शरीर ज्ञानका स्थान है; यथा—*'मुनिगन निकट बिहग मृग जाहीं। बाधक बधिक बिलोकि पराहीं॥', हित अनहित पसु पच्छिउ जाना। मानुष तनु गुन ज्ञान निधाना॥'*(२६४। ३-४) [अतः तुमको तो स्वयं वैर अथवा प्रेम, कपट और चतुरता जान लेनी थी, पर तुम इतना भी नहीं समझती हो। पशुसे भी गयी-गुजरी हो। जो हमसे बार-बार पूछती हो। (मा० सं०) अपनेको साफ स्पष्ट कहनेवाली जनानेके लिये वह कठोर वाणी बोलने लगी। (रा० प्र०) '**अनर्थदर्शिनी मौर्ख्यान्नात्मानमवबुद्ध्यसे। शोकव्यसन-विस्तीर्णे मज्जन्ती दुःखसागरे॥**' (वाल्मी २। ८। २१)का सब भाव इस अर्धालीमें आ गया]।

टिप्पणी—३ '*भयउ पाखु दिन*·····' इति। [(क) प्रोफे० दीनजी 'पाख' का अर्थ 'दो' लिखते हैं। पक्ष दो होते हैं, शुक्ल और कृष्ण। अतः उसका यह भी अर्थ ले सकते हैं। जैसे, वेद=चार; मास=१२; राम=एक; इत्यादि। 'पाख' का दूसरा अर्थ एक पक्ष, एक पखवारा, प्रसिद्ध ही है। यथा—'**सम प्रकास तम पाख दुहुँ।**' (१। ७) तिलककी तैयारी तो आजहीसे हो रही है किंतु मन्थराने विरोध बढ़ाने और राजापर एकदम क्रोध उत्पन्न करानेके लिये १५ दिन कहे हैं। अतएव आग भड़कानेके विचारसे यही अर्थ विशेष सङ्गत है।] (ख)—सारी रचना एक दिनमें हुई पर मन्थराने अनुमान किया कि ऐसी रचना पंद्रह दिनसे कममें नहीं हो सकती। इसीसे उसने '*पाखु दिन*' कहा। इससे राजाका कपट जनाती है। (ग) '*तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू*'—भाव कि यदि राजाके मनमें कपट न होता तो तुमसे इतने दिनतक बात क्यों छिपाये रखते ? न तो तुमको खबर दी और न तुम्हारे पुत्रको बुलाया। तुमने प्रथम-प्रथम मुझसे ही खबर पायी और वह भी पंद्रह दिनपर। अन्य सब रानियोंके यहाँ पंद्रह दिन पूर्वसे ही खबर पहुँचा दी गयी। अतएव निश्चय ही राजाके मनमें कपट है। (मैं न कहती तो तिलक भी हो जाता तब भी तुमको मालूम होता या न होता, कौन जाने।) ☞ इन वचनोंसे मन्थरा सुझा रही है कि एकमात्र मैं ही तुम्हारी हितैषिणी हूँ। एक मैं ही सत्य-सत्य तुम्हारे हितकी कह रही हूँ और राजा, कौसल्या, राम आदि सभी तुम्हारे शत्रु हैं।

पं० विजयानन्दत्रिपाठीजी—राज्यके गुप्त भेद छिपाये जाते हैं। प्रकाश करनेवाला दोषी है। दण्डनीय है। पन्द्रह दिनसे तिलककी तैयारी हो रही है, पर तुमसे बात छिपायी जा रही है। तुमसे कहनेका दोष कौन अपने सिरपर ले और राजा तथा कौसल्याके कोपका भाजन बने। पर मैं तो तुम्हारे राज्यमें खाती-पहनती हूँ, मैं और किसीको नहीं जानती, मुझे सच्ची बातके प्रकट कर देनेमें दोष नहीं। आजतक मैं भी छिपाये रही, पर अब नहीं प्रकट करती हूँ तो सर्वनाश हो जायगा, अतः अब मैं कहे देती हूँ। यथा—'*जबते कुमत सुना मैं स्वामिनि। भूख न बासर नींद न जामिनि॥*'

खाइअ पहिरिअ राज तुम्हारे। सत्य कहे नहिं दोषु हमारे॥ ४॥
जौं असत्य कछु कहब बनाई। तौ बिधि देइहि हमहिं सजाई॥ ५॥

अर्थ—मैं तुम्हारे राज्यमें खाती-पहनती हूँ, (इसलिये) मेरे सत्य कहनेमें मुझे कुछ दोष नहीं (लग सकता)॥ ४॥ यदि मैं कुछ झूठ बनाकर कहूँ तो विधाता मुझे दण्ड देगा॥ ५॥

नोट—१ मन्थरा ये वचन अपनी बातको पुष्ट वा प्रामाणिक करनेके लिये कहती है। '***भरत सपथ तोहि सत्य कहु***' इन वचनोंका उत्तर यहाँ दिया गया कि मैं सत्य ही कहूँगी। '***खाइअ पहिरिअ*** ·····' से जनाया कि अपने पालन-पोषण करनेवालेके हितके लिये झूठ भी बोले तो दोष नहीं।

नोट—२ '***सत्य कहे नहिं दोषु हमारे***' इति। इन वचनोंसे पाया जाता है कि सत्य कहनेमें भी दोष लगता है। सत्यभाषणके विषयमें—'**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥**' यह नीतिका श्लोक बहुत प्रसिद्ध है। अर्थात् वह सत्य बोलना चाहिये जो प्रिय हो, जो दूसरेको अप्रिय हो वह सत्य भी न बोले और असत्य प्रिय भी हो तो भी न बोले यह सनातन-धर्म है।

मन्थराके कथनका आशय यह है कि यद्यपि मेरे इस सत्यसे कौसल्याके हितकी हानि होगी और यद्यपि दूसरेका कार्य जिसमें बिगड़े वह सत्य भी दूषित कहा जाता है तथापि मैं तो तुम्हारा खाती-पहनती हूँ, तुम्हारे राज्यमें हूँ और इस सत्यसे तुम्हारा हित होगा; अतः मुझे दोष नहीं हो सकता। मेरी स्वामिनीका तो हित है, दूसरेकी हानि हुआ करे (बै०, रा० प्र०)।

टिप्पणी—१ '*खाइअ पहिरिअ राज तुम्हारे।*·····' इति। (क) जिस सत्यसे किसीका अनहित हो उसे न कहना चाहिये, इसीपर कहती है कि मैं तुम्हारा खाती-पहनती हूँ इसलिये मुझे तुम्हारा अहित, तुम्हारी हानि न देखनी चाहिये। अतएव मेरे सत्य कहनेमें दोष नहीं है। (ख) '*राज तुम्हारे*'—भाव कि तुम्हारी सौत तुम्हारा राज्य नष्ट करना चाहती है, उसकी रक्षाके लिये मैं सत्य कहती हूँ। दूसरेको दोष देना पाप है। अतः कहती है कि मैं सत्य कहती हूँ, कौसल्याका दोष कहनेसे मुझे दोष नहीं लग सकता। ('*राज तुम्हारे*'

में भाव यह है कि पतिप्रिया होनेसे पतिका राज्य तुम्हारा ही राज्य था। रामराज्य होनेसे तुम्हारा राज्य न रह जायगा। वह तो कौसल्या-सीताका राज्य होगा। तुम्हारा राज्य तो भरतके राजा होनेसे ही रह सकता है, अन्यथा नहीं।)

टिप्पणी—२ *'जौं असत्य कछु कहब बनाई।.....'* इति। (क) रानीके *'भरत सपथ तोहि सत्य कहु'* का उत्तर *'जौं असत्य.....'* है। पहले कहा कि *'सत्य कहे नहि दोष हमारे'* अर्थात् सत्यमें दोष नहीं है और अब कहती है कि यदि असत्य कहूँ तो दण्ड मिलेगा। अर्थात् मैं असत्यसे डरती हूँ, असत्यसे दोष लगेगा। (ख) *'कछु कहब बनाई'*—भाव कि मैं सब सत्य-ही-सत्य कहूँगी, किञ्चित् भी असत्य न कहूँगी। रामराज्यसे किसीको भी दु:ख नहीं हो सकता और मन्थरा रामराज्याभिषेकको कैकेयीके लिये विपत्तिका बीज बताती है। यह सब असत्य है। अत: इसे (शत्रुघ्नजीद्वारा)दण्ड मिलेगा। यथा—*'तेहि अवसर कुबरी तहँ आई। बसन बिभूषन बिबिध बनाई॥ लखि रिस भरेउ लखन लघु भाई। बरत अनल घृत आहुति पाई॥ हुमगि लात तकि कूबर मारा। परि मुँहभर महि करत पुकारा॥ कूबर टूटेउ फूट कपारू। दलित दसन मुख रुधिर प्रचारू॥.....सुनि रिपुहन लखि नखसिख खोटी। लगे घसीटन धरि धरि झोंटी॥'* (१६३। २—७) यहाँ विधिका दण्ड देना कहती हैं। क्योंकि विधि ही कर्मका फल देते हैं। वे शत्रुघ्नद्वारा दण्ड देंगे। *'तौ बिधि.....'* यह शपथपूर्वक कहना है। कैकेयीको दृढ़ करनेके लिये ये वचन कहे जिसमें सत्य मानकर वह इसके कहनेके अनुकूल करे।

रामहि तिलक कालि जौं भयऊ। तुम्ह कहुँ बिपति बीजु बिधि बयऊ॥ ६॥
रेख खँचाइ कहउँ बल भाखी। भामिनि भइहु दूध कै माखी॥ ७॥
जौं सुत सहित करहु सेवकाई। तौ घर रहहु न आन उपाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**बयऊ**=बो दिया। **तिलक**=टीका, राज्याभिषेक।

अर्थ—जो कल रामचन्द्रजीको तिलक हो गया (तो समझ रखिये कि) विधाताने आपके लिये विपत्तिका बीज ही बो दिया॥ ६॥ मैं रेखा खींचकर बलपूर्वक कहती हूँ, हे भामिनी! आप दूधकी मक्खी हो गयीं॥ ७॥ यदि आप पुत्रसहित सेवा करें (अर्थात् दास-दासी बन कर रहें) तो घरमें रह सकेंगी, अन्यथा किसी उपायसे नहीं॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'रामहि तिलक.....'* इति। यह *'हरष समय बिसमय करसि'* का उत्तर है। 'जौं संदिग्ध' वचनसे उसके हृदयकी बात सूचित हो रही है कि वह रामराज्य न होने देगी। (भाव कि अपने वशभर तो हम उनका राज्याभिषेक होने ही न देंगी, फिर भी कदाचित् हो गया तो यह निश्चय जानो कि.....। भीतरी आशय यह है कि तुम रामराज्य न होने दो। रामराज्याभिषेक बीज है, आगे इसका फल विपत्ति-ही-विपत्ति होगा। क्या विपत्ति पड़ेगी यह आगे बताती है। यहाँ 'सम्भावना अलङ्कार' है।)

टिप्पणी—२ *'रेख खँचाइ कहउँ.....'* इति। (क) सत्यकी दृढ़ताके लिये लोगोंमें रेखा खींचकर कहनेकी रीति है। यथा—*'पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची।.....'* (२१। ७) *'बल भाषी'*—अर्थात् जोर देकर कहती हूँ।

नोट—१ 'रेखा खींचकर कहना' मुहावरा है जिसका अर्थ है—निश्चयपूर्वक कहना, जोर देकर कहना। जैसे पत्थरपर खींची हुई लकीर नहीं मिटती वैसे ही मेरी यह बात अमिट है, पक्की है। यथा—*'पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची।.....'*

नोट—२—*'भामिनि'*=हे भामिनी! भामिनि मानवती क्रोधवती स्त्रीको कहते हैं। प्राय: यह स्त्री, रमणी और सुन्दरीके अर्थमें आता है। यथा—*'कह रघुपति सुनु भामिनि बाता'* (आ० ३५) दीनजी यहाँ '**भामिनि**' का भाव मनको 'भानेवाली' करते हैं।

पंजाबीजी कहते हैं कि भामिनि सम्बोधन करनेका कारण यह है कि इसकी जिह्वापर सरस्वती है जो ऐसा बोल रही है मानो वह देवी कैकेयीको 'कोपिणी' होनेका वर दे रही है। प्रमाण अमरकोष—'सुन्दरी

रमणी कोपनासैव भामिनी।' बैजनाथजी कहते हैं कि इससे सूचित करती है कि अबतक तुम मानवती रहीं, तुम्हारा मान रहा, अब दूधकी मक्खी हो जाओगी।

नोट—३ 'दूधकी मक्खी' भी मुहावरा है। जैसे दूधमें मक्खी गिरती है तो कोई दूधको नहीं फेंक देता। किंतु मक्खी ही निकालकर फेंक दी जाती है, वैसे ही तुम भी निकाल बाहर की जाओगी। पुनः, दूध श्वेत होता है। उसमें मक्खी काली होनेसे तुरंत देख ली जाती है, निकालकर फेंकते-फेंकते प्रायः उसका अङ्ग-भंग हो जाता है। वैसे ही सबकी दृष्टि तुमपर रहेगी, सबकी निगाहमें खटकोगी और कहींकी न रहोगी।—(रा० प्र०) यहाँ 'ललित अलङ्कार' है। क्योंकि सीधे यह न कहकर कि घरसे निकाल दी जाओगी उसका प्रतिबिम्बमात्र घुमाकर कहा गया है।

बैजनाथजी कहते हैं कि 'यहाँ सरस्वती-उक्ति यह है कि रातको दूधमें मक्खी पीनेसे विषवत् हो जाती है सो स्नेहरूप दूधमें रातको तुम्हारे प्रेमपानद्वारा राजाके प्राण जायँगे।'

नोट—४ *'जौं सुत सहित करहु'''* ' इसमें भी *'जौं'* से सूचित करती है कि तुमसे सेवा हो नहीं सकती, यथा—*'नैहर जनम भरब बरु जाई। जियत न करबि सवति सेवकाई॥'* (२१। १) यदि राजतिलक कौसल्याने सेवा करानेके लिये रचाया है; ऐसा मन्थरा सुझाती चली आ रही है और उसी पक्षके अनुकूल दृष्टान्त देती है। भाव कि कौसल्या दुःख देंगी और सेवा न करोगी तो घरसे निकाल देंगी। *'आन उपाई'* अर्थात् साम, दाम, भय, भेदसे। इसमें भाव यह निकलता है कि भला सोचो तो कि भरत रामके वशमें कैसे रह सकेगा और तुम सौतसे अपमानित होकर कैसे जी सकोगी, उससे तो मरण ही अच्छा है। अतएव तुम शीघ्र उसका उपाय करो। यथा—'**त्वं तु दासीव कौसल्यां नित्यं परिचरिष्यसि। ततोऽपि मरणं श्रेयो यत्सपत्न्याः पराभवः॥**' (अ० रा० २। २। ६३) **अतः शीघ्रं यतस्वाद्य''''॥**'

दो०—कद्रू बिनतहिं दीन्ह दुख तुम्हहिं कौसिला देब।
भरत बंदिगृह सेइहहिं लषनु राम के नेब॥१९॥

शब्दार्थ—**देब**=देंगी। **बंदिगृह**=बन्दीखाना, जेलखाना, कारागार, कैद। **नेब**=यह अर्बी शब्द नायबका अपभ्रंश है। नायब, मन्त्री, वजीर, सहायक। **सेइहहिं**=भोगेंगे, सेवन करेंगे।

अर्थ—(जैसे) कद्रूने विनताको दुःख दिया था (वैसे ही) कौसल्या तुमको दुःख देंगी। भरत जेलखाना भोगेंगे और लक्ष्मण रामके नायब होंगे॥१९॥

टिप्पणी—१ (क) जो ऊपर कहा था कि सुतसहित सेवा करनी होगी उसीको दृष्टान्त देकर स्पष्ट और पुष्ट करती है। भाव कि कौसल्याकी इच्छा है कि तुम उनकी सेवा करो, अतएव वे तुमको दासी बनायेंगी। देखो, सौतको सदा सौतने दुःख दिया है। वैसे ही कौसल्या तुमको दुःख देंगी। यहाँ दृष्टान्त अलङ्कार है। (ख) *'भरत बंदिगृह सेइहहिं'*—भाव कि कौसल्या तुमको अपना शत्रु समझती हैं; अतएव उनके पुत्र राम भरत और शत्रुघ्नको वैरी समझेंगे। शत्रुको स्वतन्त्र न रहने देना चाहिये। अतएव वे भरत-शत्रुघ्नको जेलखानेमें डाल देंगे। देखो न, कद्रू और विनताकी शत्रुताके कारण उनके पुत्रोंमें भी परस्पर विरोध है। (ग) *'भरत बंदिगृह सेइहहिं'*—भाव कि विनताका उद्धार तो उनके पुत्र गरुड़ने किया था, पर तुम्हारा पुत्र तुम्हारा उद्धार न कर सकेगा, वह तो प्रथम ही बन्दीगृहमें डाल दिये जायेंगे। (अतः तुम आजीवन दासी ही बनी रहोगी।) (घ) *'लषनु राम के नेब'*—नेब अर्थात् हुक्मसे। (पर मेरी समझसे 'नेव' का अर्थ 'नायब, मन्त्री, सहायक' ही ठीक है। गीतावलीमें भी यह शब्द आया है। यथा—*'रिषि नृप सीस ठगौरी सी डारी। कुलगुरु सचिव निपुन नेवनि अवरेब न समुझि सुधारी॥'* (१।९८)

नोट—*'लषनु राम के नेब'* का भाव यह भी है कि लक्ष्मण तो श्रीरामके अनुगामी हैं, इन दोनोंमें अश्विनीकुमारोंका-सा प्रेम है, राम उनकी रक्षा करते हैं और वे रामकी। अतः लक्ष्मणजी *'नेब'* होकर राज्य भोगेंगे। वे ही सर्वेसर्वा होंगे। अतः उनकी माताके लिये सब ठीक ही होगा, उनको दासीत्व नहीं करनी

पड़ेगी। यथा—'**सुमित्रायाः समीचीनं भविष्यति न संशयः। लक्ष्मणो राममन्वेति राज्यं सोऽनुभविष्यति॥**' (अ० रा० २। २। ६१) '**निमित्तमात्रमेवाहं कर्ता भोक्ता त्वमेव हि।**' (अ० रा० २। २। ३७) (यह स्वयं श्रीरामजीने लक्ष्मणजीसे कहा है), '**गोप्ता हि रामं सौमित्रिर्लक्ष्मणं चापि राघवः। अश्विनोरिव सौभ्रात्रं तयोर्लोकेषु विश्रुतम्॥**' (वाल्मी० २। ८। ३१)

प्र० सं०—कद्रू-विनताका दृष्टान्त देकर जनाती है कि वहाँ गरुड़ समर्थ थे। उन्होंने सर्पोंसे अमृत देकर मेल कर लिया, अपनी माताका दुःख दूर किया, सो तुम्हारे पुत्रसे होनेका नहीं। लक्ष्मण नायब होंगे, वे यही सलाह देंगे कि शत्रुको स्वतन्त्र न रखना चाहिये। अतः, भरतजी बन्दीखानेमें डाल दिये जायँगे और कोई नायबके डरसे बोल न सकेगा। बाबा हरिदासजी कहते हैं कि भाव यह है कि भाई पटइत (पट्टीदार) जबरदस्त होते हैं। वे रामजीके कहनेपर भी न मानेंगे।

हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि दासी होकर जन्म बिताना होगा, इतनेसे ही यहाँ प्रयोजन है। छूटना है ही नहीं, अतः गरुड़से छुड़ाये जानेकी कथाका उल्लेख नहीं किया गया।

'कद्रू-विनताकी कथा'—श्रीकश्यप ऋषिजीकी स्त्रियोंमेंसे दो ये थीं। कद्रू नागोंकी माता थी और विनता गरुड़ और अरुणकी। दोनोंमें सूर्यके घोड़ेकी अथवा (महाभारत आदिपर्व अ० २० के अनुसार क्षीरसमुद्रसे निकले हुए) उच्चैःश्रवाकी पूँछके रंगके विषयमें वाद-विवाद हुआ, कद्रू काली बताती और विनता श्वेत। अन्ततोगत्वा यह ठहरी कि जिसकी बात झूठी निकले वह दूसरेकी दासी होकर रहे। कद्रूके पुत्र घोड़ेकी पूँछसे जा लपटे जिससे वह काली दीख पड़ी। इस चालाकीसे कद्रूने विनताको दासी बनाया और अनेक कष्ट दिया करती थी। अपनी माताको खिन्न देख गरुड़ने पूछा तो उसने सब हाल बताया। इसपर गरुड़ने तपस्याकर विष्णुभगवान्‌को प्रसन्नकर वर माँग लिया कि मैं सर्पोंका भक्षण किया करूँ; मुझे उनका विष न लगे। बस अब इन्होंने सर्पोंका भक्षण करना प्रारम्भ कर दिया। इस तरह माताका बदला लिया। महाभारत आदिपर्व० अ० २७ में यह उल्लेख है कि गरुड़के मातासे पूछनेपर कि नागोंकी आज्ञा माननेके लिये मैं क्यों बारम्बार विवश किया जाता हूँ। उन्होंने कद्रू और नागोंके छलका सब वृत्तान्त कह सुनाया। तब गरुड़ने नागोंसे कहा कि हम तुम्हारा क्या काम कर दें। जिसके बदलेमें मैं और मेरी माता दासभावसे छुटकारा पा जायँ? उन्होंने कहा कि हमें अमृत ला दो। माताकी आज्ञा ले और माता-पिता दोनोंका आशीर्वाद पा ये अमृत लेने चले। गज कच्छपको सरोवरसे पकड़कर आकाशमार्गमें जा हिमांचलपर पहुँचकर उन्हें खा डाला, फिर वे देवताओंको युद्धमें हराकर अमृत प्राप्त कर ले आये। इतनी कठिनाइयोंको झेलकर माताको दासीभावसे छुड़ाया। (यह कथा पं० रामकुमारजीके भावके अनुकूल है) इन्द्रने गरुड़से मित्रता कर ली और नागोंके भक्षणका वर गरुड़को दिया। गरुड़ने अमृतका घट नागोंके सामने लाकर रख दिया और माताको दासीत्वसे छुड़ाया; त्यों ही इन्द्र वह अमृत उठा ले गये। नागोंको पीनेको न मिला—जैसा छल उन्होंने किया था वैसा ही फल पाया।

कैकयसुता सुनत कटु बानी। कहि न सकइ कछु सहमि सुखानी॥ १॥
तन पसेउ कदली जिमि काँपी। कुबरी दसन जीभ तब चाँपी॥ २॥

शब्दार्थ—**सहमि**=(फारसी सहम) डरकर। **पसेउ**=(सं० प्रस्वेद) पसीना। **कदली**=केला। **चाँपी**=दाबी, दबाई।

अर्थ—कैकेयी कुबरीकी यह कड़वी वाणी सुनते ही डरकर सूख गयी, कुछ बोल नहीं सकती॥ १॥ शरीरमें पसीना हो आया। वह केलेकी तरह काँपने लगी। तब (यह दशा देखकर) कुबरीने दाँतों तले जीभ दबायी॥ २॥

नोट—'***कैकयसुता*……**' इति। अभीतक भरतजीके सम्बन्धका नाम देते आये अर्थात् '***भरतमातु***' कहते आये; अब यहाँ बुद्धि फिर गयी और कुमति आ गयी इससे भरत-सम्बन्ध छोड़कर पिता सम्बन्धी नाम दिया। पुनः, मन्थरामें अब प्रतीति हो गयी है, वह कैकय देशकी है; इससे कैकयराजका सम्बन्ध यहाँ दिया।

टिप्पणी—१ '*कैकयसुता सुनत कटु बानी।*……' इति। (क) 'रामतिलक' यह वाणी पहले मधुर थी अब

वही कटु हो गयी। ☞ भावके अनुसार एक ही वस्तु प्रिय और अप्रिय हो जाती है। (जबतक कैकेयीजीका श्रीरामजीमें प्रेम-भाव बना रहा तबतक रामतिलक उसको प्रिय लगता रहा।) *'सुनि प्रिय बचन मलिन मनु जानी।'* (१४। ७), *'प्रियवादिनि सिख दीन्हिउँ तोही।'* (१५। १) तथा *'गूढ़ कपट प्रिय बचन सुनि।'* (१६) यहाँतक वचन प्रिय रहे। परन्तु जब *'भावी बस प्रतीति उर आई।'* (१९। १) (मन्थराकी बातोंपर विश्वास हुआ तब प्रथमवाला भाव नष्ट हो गया अतः) तब वे ही वचन कटु लगे। (☞ *'जौं सुत सहित करहु सेवकाई। तौ घर रहहु न आन उपाई॥''दुख तुम्हहि कौसिला देब। भरत बंदिगृह सेइहहिं'* ये वचन भयावने और कड़वे हैं ही। तुम्हें और तुम्हारे पुत्रको दासी-दासकी तरह सेवा करनी होगी, तुम्हें कौसल्या दुःख देंगी, भरत सदाके लिये कारागारमें डाल दिये जायँगे—भला सौतके लिये इससे अधिक कठोर, कड़वे और हृदयको दहला देनेवाले वचन और क्या हो सकते हैं? इस भावी दृश्यकी कल्पनासे भला किस स्त्रीका हृदय क्षुब्ध न होगा? यहाँ मानव-अन्तःकरणका कैसा सुन्दर चित्रण है! वाल्मीकीय और अ० रा० में इसकी छटा भी नहीं है। (ख) *'कहि न सकइ कछु सहमि सुखानी'*—तन, मन, वचनसे व्याकुल हो गयीं। सूख गयीं, काँप उठीं, शरीर पसीना-पसीना हो गया यह तनकी व्याकुलता है, मनमें सहम गयीं और *'कहि न सकइ कछु'* मुँहसे कुछ कह न सकीं यह वचनकी व्याकुलता है।

टिप्पणी—२ *'तन पसेउ'''''* इति। सहम जानेपर यह दशा हो जाती है। पवनके झोंकेसे केलेका पेड़-पत्र सर्वाङ्ग काँपता (हिलता) है वैसे ही कैकेयीका सर्वाङ्ग काँप उठा, वह सिरसे पैरतक काँपने लगी। वह इतना काँपी कि उसकी व्याकुलता देखकर मन्थराको शंका हुई कि यह मरणप्राय है। स्त्रियोंका स्वभाव है कि शंका होनेपर वे जीभको सहसा दाँतों तले दाब लेती हैं। (*'तनु पसेउ''''''काँपी'* में उदाहरण अलङ्कार है)।

नोट—*'कुबरी दसन जीभ तब चाँपी'* इति। (क)—'दाँतों तले जीभ दबाया' मुहावरा है। इसका भाव है कि 'अरे! क्या गजब हो गया!' कहीं इस दशामें इसके प्राण न निकल जायँ। ऐसा समझकर दाँत तले जीभ दबायी। (दीनजी) यह शोचकी मुद्रा है। (ख) रा० प्र० कारका मत है कि कैकेयीको यह मुद्रा दिखाकर उसे सावधान करती है कि भण्डा फूट जायगा, सारा खेल बिगड़ जायगा। देखो, यह क्या कर रही हो? यह समय शोक प्रकट करनेका नहीं है। ऐसा करनेसे कार्यमें हानि पहुँचेगी। (ग) पंजाबीजीका मत है कि इस मुद्रासे मन्थरा अपने मनको धैर्य बँधा रही है कि अब रानी मेरे वशमें आ गयी, विषवृक्षमें फूल लग गये। अथवा, कुबरीको हर्ष हुआ, पर अपने हृदयका कपट रानीपर प्रकट न हो जाय, मेरे मुँहसे कोई ऐसी बात निकल न पड़े जिससे भेद खुल जाय; अतः जीभको दाब रही है। (पं०, रा० प्र०) इसी भावको वि० टी० कार इस प्रकार लिखते हैं—'जीभका दबाना इस अभिप्रायसे है कि गढ़ी हुई बात बन बैठी। अर्थात् जिससे बात कही गयी वह इस प्रकार फँस गया जैसे दाँतोंसे जीभ। (घ) बैजनाथजी लिखते हैं कि अपने प्रबन्धमें विघ्नकी शंका मानकर दाँतों तले जीभ दबा ली। भाव कि इस व्याकुलतामें कहीं यह मूर्च्छित हो गयी तो हल्ला मच जायगा, सारा घर यहाँ जुट जायगा, कहीं इसके मुखसे मेरी कही हुई बातें निकल पड़ीं तो सारा काम बिगड़ जायगा और मैं दण्ड पाऊँगी। (ङ) वीर कविजी लिखते हैं कि दाँतों तले जीभ दबाना चेष्टासूचक वर्जनका संकेत है कि अभी क्या बिगड़ा है? इतनी घबड़ाहटकी कौन बात है? उपाय हाथमें है, उसे सावधानीसे कीजिये।

कहि कहि कोटिक कपट कहानी। धीरज धरहु प्रबोधिसि रानी॥ ३॥
*** कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू। जिमि न नवइ फिरि उकठ कुकाठू॥ ४॥**
फिरा करमु प्रिय लागि कुचाली। बकिहि सराहइ मानि मराली॥ ५॥

* यह अर्धाली राजापुरकी पोथीमें नहीं है पर अनेक प्राचीन पोथियोंमें है।

शब्दार्थ—**कुपाठ**=बुरी बातें। '**पाठ पढ़ाना**' मुहावरा है। इसका अर्थ है 'अपने मतलबके लिये किसीको बहकाना, पट्टी पढ़ाना, बुरी बात सिखाना।' पाठ=जो कुछ पढ़ा या पढ़ाया जाय, सबक। **कुपाठ**=बुरा सबक, बुरी बात, बुरी सलाह, बुरी मन्त्रणा। '**उकठ कुकाठू**—जो वृक्ष खड़ा-खड़ा सूख जाता है उसकी लकड़ीको उकठा काठ कहते हैं। **उकठा**=(अब=बुरी+काष्ठ=लकड़ी जैसे कठियाना=कड़ा होना) सूखकर जो कड़ी हो जाय या ऐंठ जाय। **कुकाठू**=कुत्सित काष्ठ, बुरी लकड़ी; जैसे बबूल, बहेड़ा, करील आदि। **नवइ**=नवता, झुकाया जा सकता। **करमु**=भाग्य। **बकिहि**=बगुली। **मराली**=हंसिनी।

अर्थ—मन्थराने अनेकों कपटकी कहानियाँ कहकर रानीको खूब समझाया कि धीरज धरिये॥ ३॥ कैकेयीको कुपाठ पढ़ाकर ऐसा कठिन (कठोर) कर दिया जैसे 'उकठा कुकाठ' फिर नहीं नवता॥ ४॥ कैकेयीका भाग्य पलट गया, उसे कुचाल (वा, कुचाली मन्थरा) प्रिय लगने लगी। वह बगुलीको हंसिनी मानकर सराहने लगी॥ ५॥

टिप्पणी—१ '*कहि कहि*……' इति। कपट कहानियोंके द्वारा प्रबोध कराया, समझाया कि अधीर होनेसे काम बिगड़ जायगा—'*धीरज धरिय त पाइय पारू*', जैसे अमुक-अमुकका काम धीरज धरनेसे बना था और अमुकका अधीर होनेसे बिगड़ा। घबड़ाओ नहीं, मैं तुम्हारे सब काम बनाऊँगी। धैर्य धारण करनेवालोंकी कहानियाँ कहीं। '*कपट कहानी*' से जनाया कि ये सब गढ़ी हुई कहानियाँ थीं।

टिप्पणी—२ '*कीन्हेसि कठिन*……' इति। (क) निकम्मी बातें पढ़ा (सुना) कर उसे कठिन कर दिया (जिसमें राजाकी बातोंमें न आ जाय। भेद न खोल दे)। भाव कि पहले वह कोमल थी अब कठिन (कठोर) हो गयी। उत्तरार्धमें कठिनताकी उपमा देते हैं। (ख)—उकठे काठमें रस नहीं रहता वैसे ही कैकेयी नीरस हो गयी। कुकाठकी तरह कठिन कर दिया । कपट कहानी कुपाठ है। बिना काटे ही खड़े वृक्षका सूख जाना कुकाठका 'उकठना' है। [काष्ठ (लकड़ी) एक तो स्वाभाविक ही कठोर होता है, दूसरे 'उनका' (लगे हुए वृक्षकी सूखी लकड़ी) वह तो और भी कठोर होता है, किसी प्रकार नरम नहीं होता चाहे जल दें, चाहे आँच दिखावें। वह किसी प्रकार नहीं झुकाया जा सकता, टूट भले ही जाय। और कुत्सित काठ तो अत्यन्त कठिन। हरा पेड़ जल्दी नव जाता है, सूखनेपर झुकाया नहीं जा सकता। मन्थराने रानीको ऐसी पट्टी पढ़ायी कि फिर वह राजा वा किसीके भी पट्टीमें न आवे, किञ्चित् भी नर्म न हो। यहाँ उदाहरण अलङ्कार है।

टिप्पणी—३ '*फिरा करमु*……' इति। (क) प्रथम मति (बुद्धि) फिरी तब प्रतीति आयी और जब कुचालीमें प्रतीति हुई तब कर्म फिरा। यथा क्रमशः—'*तसि मति फिरी अहइ जसि भावी।*' (१७। २) '*भावी बस प्रतीति उर आई।*' (१९। १) '*फिरा करम प्रिय लागि कुचाली।*' [भाग्य फिर गया है, इसीसे कुचाली प्रिय लगी। (रा० प्र०) सुकर्म बीत गया, कुकर्मोंका उदय हुआ, इसीसे कुचाल, अनीति-मार्गपर चलना प्रिय लगा। (वै०) इसीसे वह कुत्सित मन्थराकी प्रशंसा करने लगी।] (ख) कैकेयीके मन, कर्म और वचन तीनों बिगड़ गये (वह तीनोंसे नष्ट हुई)। '*प्रिय लागि कुचाली*' से मनका '*फिरा करम*' से कर्मका और '*बकिहि सराहइ मानि मराली*' से वचनका बिगड़ना सूचित किया गया। (ग) '*बकिहि सराहइ*'—प्रथम कटु वचन सुनकर भयसे सूख गयी। तब मन्थराने कपट कहानियाँ कहकर, उसका प्रबोध किया, जिससे कैकेयीको धीरज हुआ। धैर्य आनेपर अब वचन निकले और वह मन्थराकी प्रशंसा करने लगी। (च) '*मानि मराली*'—अर्थात् वह है तो बगुली ही किंतु कैकेयीने उसे हंसिनी मान लिया है। वह हंसिनी है नहीं। हंसिनी माना है अतः वैसी ही प्रशंसा करती है कि तू बड़ी बुद्धिमान् है। बगुली ऊपरसे देखनेमात्रमें तो स्वच्छ होती है, उसमें क्षीर-नीर-विवरणका विवेक नहीं, वह दूध और मोतीको छोड़कर मछली आदिको खाती; कपटसे पूर्ण होती है, इत्यादि। वैसी ही मन्थरा है, उसके हृदयमें कपट भरा है, वह मलिन है, सत्यासत्यका विवेक उसमें नहीं है, पर रानी उसके विवेककी प्रशंसा करती है कि तूने राजा और रानी कौसल्या आदि सभीका गुप्त कपट पहचान लिया जो मैं भी न लख सकी थी और न किसी औरने ही भाँप पाया।

सुनु मंथरा बात फुरि तोरी। दहिनि आँखि नित फरकइ मोरी॥ ६॥
दिन प्रति देखउँ* राति कुसपने। कहउँ न तोहि मोहबस अपने॥ ७॥
काह करौं सखि सूध सुभाऊ। दाहिन बाम न जानउँ काऊ॥ ८॥
दो०—अपने चलत न आजु लगि अनभल काहुक कीन्ह।
केहि अघ एकहि बार मोहि दैअ† दुसह दुखु दीन्ह॥ २०॥

शब्दार्थ—**दिन प्रति**=प्रत्येक दिन। '**सूध**'=सीधा, सरल। **काऊ**=कभी। **चलत**=अधिकारके समय—यह भी मुहावरा है।=भरसक। '**काहुक**=किसीका, यथा—'*सपनेहु आन भरोस न देवक*' में 'देवक'=देवका। **अघ**=पाप। **मोहबस**=नासमझीसे, अज्ञानवश।

अर्थ—(कैकेयी बोली) ऐ मन्थरे! सुन, तेरी बात सत्य है, मेरी दाहिनी आँख नित्य (हर समय) फड़कती रहती है॥ ६॥ मैं प्रत्येक दिन रातमें बुरे स्वप्न देखती हूँ पर अपने अज्ञानवश तुमसे नहीं कहती॥ ७॥ हे सखी! मैं क्या करूँ? मेरा सीधा-सादा स्वभाव है, मैंने कभी दाहिना-बायाँ नहीं जाना॥ ८॥ मैंने अपनी चलतीमें आजतक किसीकी बुराई नहीं की। फिर न जाने किस पापसे विधाताने मुझे एकबारगी ही यह कठिन असह्य दु:ख दिया॥ २०॥

टिप्पणी—१ '*सुनु मंथरा बात फुरि तोरी।*' इति। (क) '*बात फुरि*'—अर्थात् मैं पहले झूठी मानती-समझती थी। '*दहिनि आँखि*' अर्थात् कहा आँखों देख रही हूँ, प्रत्यक्ष देख पड़ता है। (आँख नित्य फड़कती है यह अपशकुन नित्य देख पड़ता है, इससे बात सत्य जान पड़ती है कि राजा और कौसल्या मेरा अहित करने जा रहे हैं। राज्याभिषेकसे मैं विपत्तिमें पड़ूँगी।) (ख) '*नित फरकइ मोरी*'— इससे अपशकुन सूचित होता है। भाव कि एक-दो दिन फड़कती तो वायु आदिका विकार समझा जा सकता था, पर यह नित्य फड़क रही है। अत: यह अपशकुन ही है जो जना रहा है कि भारी विपत्ति आनेवाली है। कैकेयी (मन्थराके बहकानेसे) समझती है कि रामराज्याभिषेक ही भारी विपत्ति है। अत: यहाँ 'भ्रान्ति अलङ्कार' है। यद्यपि अपशकुन भारी अपयश और वैधव्यका सूचक है। (स्त्रीका दक्षिण अङ्ग फड़कना अशुभ है। पति और पुत्र दोनों इसका त्याग करेंगे।—'*कैकेयी जौं लों जियति रही। तौ लौं बात मातु सों मुँह भरि भरत न भूलि कही॥*' (गी० ७। ३७) '*लोचन ओट बैठु मुँह गोई।*' (३६। ६) राम, राजा और भरत तीनोंसे उसे विमुख होना है।)

टिप्पणी २—'*दिन प्रति देखउँ राति कुसपने।*' इति (क) दिनका स्वप्न सत्य नहीं होता, रात्रिका सत्य होता है। दिनमें आँख फड़कती है, रात्रिमें बुरे-बुरे स्वप्न देख पड़ते हैं। अभिप्राय यह है कि दिन और रात दोनोंमें अपशकुन हो रहे हैं। (ख) '*मोह बस अपने*'—भाव कि यह बात कहने योग्य थी पर मैंने अपने अज्ञानवश तुझसे नहीं कही। पुन: भाव कि मुझे यही न समझ पड़ा कि अपशकुन हो रहा है, यदि समझ पड़ता तो तुझसे अवश्य कहती और उसकी निवृत्तिका उपाय करवाती। मोहके अनेक अर्थ हैं—भ्रम, अज्ञान, मूर्खता, मूढता, प्रेम इत्यादि। यहाँ मूर्खता, गलती, अज्ञानके अर्थमें आया है। (पंजाबीजी और बैजनाथजी 'मैं पतिके प्रेम वा मोहके वश रही, उनके स्नेहमें भूली रही कि स्वामी अनुकूल हैं तो मुझे क्या चिन्ता है'—ऐसा भावार्थ कहते हैं।)

टिप्पणी—३ '*काह करौं सखि सूध सुभाऊ*' इति। जो मन्थराने कहा कि '*राउर सरल सुभाउ*' और '*निज हित अनहित पसु पहिचाना*' उन्हीं वचनोंके अनुकूल अब रानी कहने लगी। मन्थराने जो कहा था कि '*राउर सरल सुभाउ*' उसीको लेकर उसके अनुकूल कैकेयी अपने स्वभावको सीधा सरल कहती है,

* देखहुँ—का०, रा० प्र०।
† दइअ— ना० प्र०।

इस तरह उसके वचनोंका अब समर्थन करती है। (ख) *'दाहिन बाम न जानउँ काऊ'*—(दाहिना-बायाँ अर्थात् हित, अनहित, मित्र, शत्रु, अनुकूल वा प्रतिकूल। यह मुहावरा है। भाव कि मैंने किसीको अपना शत्रु या मित्र नहीं जाना, यह न जाना कि कौन मेरा शत्रु है कौन मित्र; सबको अपने समान सीधा-सादा निष्कपट स्वभाव जानती थी अतः) मैं क्या जानूँ कि राजा, कौसल्या और राम मुझपर दाहिन हैं वा वाम? पुनः 'दाहिन-बाम कभी न जानती थी'—अर्थात् मेरी दाहिनी आँख नित्य फड़कती थी पर मैं अज्ञानवश न जानती थी कि मेरी यह आँख दाहिनी है वा बायीं। पुनः, दाहिन=हित। बाम=अनहित। भाव कि हमें अपना हित और अहित नहीं जान पड़ता। पुनः भाव कि मुझे शकुन अथवा अपशकुन भी नहीं समझ पड़ा। [पुनः भाव कि दाहिने भी वाम हो जाते हैं यह मैं कभी न समझती थी। (बाबा रामदास)]

टिप्पणी—४ *'अपने चलत'''''* इति। (क) पतिप्रिया होनेसे मेरा पूर्ण अधिकार था, मेरी ही चलती थी, मैं जो चाहती वह राजासे करवा सकती थी तथा स्वयं कर सकती थी, फिर भी मैंने किसीके साथ बुराई नहीं की। *'अपने चलत'* अर्थात् अब तो सौतकी चलती है, उसने अपनी चलतीमें हमारा अनभल किया, यद्यपि हमने अपनी चलतीमें सौतका अहित कभी नहीं किया था। (इन वचनोंसे ज्ञात होता है कि मन्थराकी बातोंमें आकर कैकेयीने अब सौतकी चलतीका अनुभव किया।) (ख) *'केहि अघ''''' दुखु दीन्ह'*—पापका फल दुःख है, यथा—*'करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक बियोग।'* (अतः सोचती है कि न जाने कौन भारी पाप किया जिससे दुःख मिला।) *'दुसह दुख'*—सौतके अधीन दासी बनकर रहना तथा पुत्रका सदाके लिये कारागारमें डाला जाना ऐसा दुःख है कि सहा नहीं जा सकता।

नैहर जनमु भरब बरु जाई। जियत न करबि सवति सेवकाई॥ १॥
अरिबस दैउ जिआवत जाही। मरनु नीक तेहि जीव* न चाही॥ २॥
दीन बचन कह बहु बिधि रानी। सुनि कुबरी तिय माया ठानी॥ ३॥

शब्दार्थ—**नैहर**=मैका, स्त्रीके पिताका घर। **भरब**=बिताऊँगी। **बरु**=भले ही, वरंच। **'चाही'**—यह अव्यय है (सं० चैवसे बना हुआ जान पड़ता है)=अपेक्षाकृत (अधिक), से बढ़कर। यथा—*'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा।'* (१। २५८) *कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि।'* (७। १९) इसका प्रयोग जायसीने बहुत किया है। बँगलामें 'चाहिया' का प्रयोग इसी अर्थमें होता है, अब 'चे' से वही अर्थ लेते हैं। **तिय माया**=त्रियाचरित्र। **ठानी**=की, फैलायी।

अर्थ—मैं भले ही मैकेमें जाकर जीवनके दिन बिताऊँगी, पर जीते-जी सौतकी सेवा न करूँगी॥ १॥ विधाता जिसे शत्रुके अधीन रखकर जिलाता है उसका जीनेसे मरना ही भला है॥ २॥ रानीने अनेक प्रकारके दीन वचन कहे। कुबड़ीने उन्हें सुनकर त्रियाचरित्र फैलाया॥ ३॥

नोट—*'जो सुत सहित करहु सेवकाई।'''''* इसका उत्तर यहाँ रानी देती हैं। *'भरब'* बड़ा चमत्कृत शब्द है, भाव यह है कि जन्मके सुखका फल तो गया ही अब केवल दिन भरना—पूरे करना है, भला मैकेमें ससुरालका-सा सुख कहाँ मिल सकेगा? वहाँ तो भावजादि ताना मारेंगी।

टिप्पणी—१ *'अरि बस'''''* इति। जीते-जी सौतकी सेवा न करूँगी उसका कारण कहती हैं कि *'अरिबस''''' ।'* अर्थात् ऐसे जीवनसे मर जाना भला है, अतः मैं मर भले ही जाऊँगी पर अपने शत्रु (सौत) की सेवा न करूँगी। [शत्रुके वश होकर जीनेसे मृत्युको अच्छा (गुणमयी) समझना जिससे जीवनका दुःसह दुःख दूर हो 'अनुज्ञा अलङ्कार' है। (वीरकवि) अ० रा० में मन्थराने यही बात कैकेयीसे कही है। यथा—'**ततोऽपि मरणं श्रेयो यत्सपत्न्याः पराभवः।**' (२। २। ६३) मानसका *'मरन नीकु'* ही '**मरणं श्रेयः**' है।]

---

* जीवन—१७६२, छ०, को० रा०, १७०४। जीव न—राजापुर, रा० प्र०। सम्भवतः लेखकप्रमादसे 'जीव' और 'न' पृथक्-पृथक् लिखे गये। 'चाही' का अर्थ न जाननेसे यह भूल हो सकती है। अतएव हमने 'जीवन' ही अर्थ किया है। 'जीव न चाही' पाठका अर्थ लोगोंने 'उसे जीना न चाहिये' ऐसा किया है।

टिप्पणी—२ *'दीन बचन कह बहु बिधि·····'* इति। (क) *'बहु बिधि'*, यथा—*'काह करौं सखि सूध सुभाऊ। दाहिन बाम न जानउँ काऊ॥'* (अपना अज्ञान कहा, यही दीन वचन है), *'अपने चलत न आजु लगि अनभल काहुक कीन्ह।·····'*, *'नैहर जनम भरब बरु जाई'* और *'अरिबस·····जीवन चाही।'* यही बहुत विधि कहना है। (ख)—अरिष्ट आनेसे भय और दीनता आती है, वैसे ही कैकेयीजीकी दशा हुई। प्रथम वे भयभीत हुईं, यथा—*'कहि न सकइ कछु सहमि सुखानी।'* (२०। १) फिर दीन होकर वचन बोलीं, यथा—*'दीन बचन कह·····।'* भुशुण्डीजीके वाक्य इसका प्रमाण हैं, यथा—*'लीन्ह श्राप मैं सीस चढ़ाई। नहिं कछु भय न दीनता आई॥'* (७। ११२) (ग)—स्त्रीचरित्र क्या किया यह आगेकी चौपाइयोंमें है। स्त्रियाँ अंचल उठाकर शत्रुको शाप देती, कोसती हैं वैसा ही करते हुए उसने निम्न वचन कहे।

अस कस कहहु मानि मन ऊना। सुख सोहागु तुम्ह कहुँ दिन दूना॥ ४॥
जेहिं राउर अति अनभल ताका। सोइ पाइहि यह फलु परिपाका॥ ५॥
जब तें कुमत सुना मैं स्वामिनि। भूख न बासर नींद न जामिनि॥ ६॥
पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची। भरत भुआल होहिं यह साँची॥ ७॥

शब्दार्थ—'**ऊना** (सं० ऊन)=न्यून, खेद, ग्लानि, हीनता। यथा—*'जनि जननी मानहु जिय ऊना। तुम्हतें प्रेम रामके दूना॥'* (५। १४) **दूना**=द्विगुण, दुगुना। **ताका**=विचारा, सोचा। बुराई ताकना मुहावरा है। **परिपाका**=परिपक्व, खूब पका हुआ, पूर्णरूपसे, परिणाम। **फलु**=परिणाम। **बासर**=दिन। **जामिनि**=(यामिनी) रात। **कुमत**=बुरी सलाह, कुमन्त्र। **गुनिन्ह**=गुणी, गुणवान्। गुणी शब्द गणक वा ज्योतिषीके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है; रमलवाले।

अर्थ—(और कहने लगी कि) मनमें हीनता मानकर दुःखित होकर ऐसा क्यों कहती हो? तुम्हारा सुख-सुहाग दिन-दिन दूना हो॥ ४॥ जिसने आपका अत्यन्त अहित सोचा है वही इसका (परिणाम) भोगेगा॥ ५॥ हे स्वामिनि! जबसे मैंने यह कुमत सुनी है तबसे न दिनमें भूख लगती है न रातमें नींद ही आती है॥ ६॥ मैंने ज्योतिषियोंसे पूछा तो उन्होंने (गणित करके) निश्चयपूर्वक कहा कि भरत भुआल (राजा) होंगे, यह बात सत्य है॥ ७॥

टिप्पणी—१ *'अस कस कहहु·····'* इति। (क) यह कैकेयीजीके *'केहि अघ एकहि बार मोहि दैअँ दुसह दुख दीन्ह॥'* (२०) का उत्तर है। दीन वचन कहना ही अपनेको न्यून मानना है। (ख) *'सुख सोहाग·····'*—रानीने जो कहा था कि दैवने मुझे दुःख दिया, उसीपर मन्थरा कहती है कि तुमको दुःख न होगा, तुम्हें सुख होगा। कौसल्याने राजाको अपने वशमें कर लिया। यही सुहागका हरण है। *'तुम्ह कहुँ दिन दूना'*—यह समझानेकी रीति है, यथा—*'सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥'* (४। ३) *'दूना'* कहनेका भाव कि अभी तो तुम्हें सुख और सुहागका बल है ही, आगे जब तुम्हारे पुत्र भरतका राज्य होगा तब राजा तुम्हारे ही वशमें रहेंगे; इस तरह तुम्हारा सुख और सौभाग्य दूने हो जायँगे। यही बात वह आगे कहती है, यथा—*'पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची। भरत भुआल होहिं यह साँची॥'*

नोट—सीधा अर्थ ऊपर लिखा गया। मानस-मयङ्ककार इत्यादि महानुभाव यहाँ, 'इन दोनोंमेंसे कोई बात सत्य नहीं हुई, न कैकेयीका सोहाग ही रहा, न भरत राजा हुए। सरस्वती यह झूठ क्यों बोलीं?' यह शङ्का करके उसका समाधान भी करते हैं कि यहाँ श्लेषद्वारा दूसरा गुप्त अर्थ भी निकलता है कि—(क) *'दिन दूना'* अर्थात् दो दिन भी नहीं है, आज ही भर समझो। यह 'विवृतोक्ति अलङ्कार' है। अथवा, (ख) 'दिन'=७ और दू=२। अर्थात् सात दिनमेंसे दो दिन नहीं, केवल पाँच दिन और है; वह भी दुःखमें बीतेंगे। राजा सुमन्तजीके लौटनेपर शरीर छोड़ देंगे तब विधवापन आ जायगा। (मानसमयङ्क) गणपति उपाध्यायजी इसीको यों कहते हैं—*'दिन दूनो कहि आज लगि पुनि मुनि मो दुइ ऊन। पुनि दिन बीते युगलके यह समुझे सुख दून॥ तजे भरतके सुख गए भूपति मरे सुहाग। प्रविशे बिरह विषाद उर सत्य शारदा बाग॥'*

अथवा, (ग) *'दिन दूना'*— अर्थात् आज रात व्यतीत होनेपर कल दिन (भोर) होनेपर दू (दोनों) न रहेंगे, न सुख ही और न पति—अनुकूलतारूपी सोहाग। (बैजनाथजी)

अ० दी० में इसके समाधानका यह दोहा है—*'दिन द्वै ऊन नराच दिन द्वै दूना दिन एक। भाल अरुण प्रिय बचन सुख धरी शारदा टेक॥'* (१३) अर्थात् दिन (सात) मेंसे दो कम नाराच (=बाण=पाँच) दिन भाल अरुण (माँग सुहाग) अर्थात् पाँच दिन सुहाग रहेगा। (छठे दिन पतिमरण हो जायगा) और प्रियवचनरूपी सुख दो दिन नहीं अर्थात् आज ही भर रहेगा, सबेरा होते ही सभीके कटुवचन सुननेको मिलेंगे तब सुख कहाँ? (अ० दी० च०)

टिप्पणी—२ *'जेहिं राउर अति अनभल ताका।'''''* इति। (क) यह *'अपने चलत न आजु लगि अनभल काहुक कीन्ह'* का उत्तर है। भाव यह कि आपने तो किसीका अहित किया नहीं अतएव आपको दुःख क्यों होगा? हाँ, जिसने तुम्हारी बुराई सोची अथवा की है उसने पाप किया है, उसको पापका फल प्राप्त होगा। मन्थराके मनमें है कि मैं रानीसे कहूँ कि राजासे 'राम-वनवास' और 'भरतको राज्य' यह दो वर माँगे। इसीको वह फलका भोग कहती है। (ख) *'अति अनभल'* दासी बनाना चाहा यह *'अनभल'* है और जड़ उखाड़ना चाहती है यह *'अति अनभल'* है। भाव यह कि जो दूसरेके लिये गड्ढा खोदता है वह स्वयं गड्ढेमें गिरता है। यथा—*'जोइ जोइ कूप खनैगो पर कहँ सो सठ फिरि तेहि कूप परै। सपनेहु सुख न संतद्रोही कहँ सुरतरु सोउ विष फरनि फरै॥'* (वि० १३७)

टिप्पणी—३ *'जब तें कुमत सुना मैं स्वामिनि।'''''* इति। (क) *'स्वामिनि'*—भाव कि आप मेरी स्वामिनी हैं इसीसे आपका अहित सुनते ही मुझे बड़ा शोच हो गया। यथा—*'पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू। रामतिलक सुनि भा उर दाहू॥'* (१३। २)—यही सुनना है, रामतिलक कुमत है। (ख) *'भूख न बासर नींद न जामिनि'*—भाव कि इस बातका बड़ा शोच है, शोचके मारे न तो नींद आती है और न भूख लगती है। यथा—*'निसि न नींद नहिं भूख दिन भरत बिकल सुचि सोच।'* (२५२) (ग) 'जामिनि' शब्दसे जनाया कि 'यामिनी' के किसी याम (प्रहर) में नींद नहीं पड़ती।

टिप्पणी ४—*'पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची।'''''* इति। (क) ज्योतिषियोंके रेखा खींचकर सत्य कहनेका भाव कि भरतजी छोटे हैं, उनका युवराज होना अयोग्य है। अतः भरत युवराज होंगे, यह सुनकर विश्वास नहीं हो सकता कि यह बात सत्य होगी। इसीसे विश्वास दिलानेके लिये गुणी लोगोंने रेख खींचकर यह बात कही। (ख) *'भरत भुआल होहिं यह साँची'* —भरतका 'भुआल' होना सत्य नहीं है क्योंकि *'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥'* इस संदेहके निवृत्त्यर्थ कहते हैं कि *'यह साँची'* अर्थात् यह सत्य है; इसमें संदेह नहीं। [न तो उसने ज्योतिषियोंसे पूछा और न उन्होंने कुछ कहा; क्योंकि अवधवासियोंमें कोई राम-विरोधी था ही नहीं। दूसरे वह तो 'रामतिलक' सुनकर कैकेयीजीके पास आयी थी; कहीं और गयी ही नहीं। मयङ्ककार कहते हैं कि मन्थरा तो सरस्वतीके वशमें है तब यह झूठ कैसे कहा। और समाधान करते हैं कि 'भूआल=भू (पृथ्वी)+ 'आल' (आलय=रहनेका स्थान)। अर्थात् भरत पृथ्वीमें रहनेका स्थान बनाकर रहेंगे। यह ठीक है, भरतजी नन्दीग्राममें भूमि खोदकर गुफा बनाकर रहे थे। यथा—*'पूछेउँ गुनिन्ह सो सगुन करि कही रेख तिन्ह खाँचि। करहिं आल भूमें सही भरत बचन यह साँच॥'* (मा० म०) *'भूख न बासर'* कैसे सत्य हो, अभी तो सुने कुछ घड़ियाँ भी नहीं हुईं। स्त्रीचरित्रमें सब घट जाते हैं। सरस्वतीकी युक्तिका अर्थ इसका भी इस प्रकार किया जाता है—जबसे सुना दिनमें तबसे भूख नहीं और अब नींद नहीं रही। (प्र० सं०)]

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—यदि रानी किसी तरहसे यह जान जायँ कि रामजीके तिलकका प्रस्ताव आज ही हुआ है तो मन्थराकी सब कलई एक क्षणमें खुल जाय, अतः वह झूठी-झूठी बातें गढ़कर उसी मर्मपर परदा डाल रही है। पन्द्रह दिनसे समाजका साजा जाना बतला रही है, जबसे यह समाचार सुना तबसे दिनको भूख न लगना, रातको नींद न आना कहकर भी उसी बातको पुष्ट करती है। इतना

ही नहीं, अपना जाना गुणियोंके पास, उनसे पूछना और उनका कहना कि भरत राजा होंगे, ये सब झूठी-झूठी बातें उसने गढ़ीं। मन्थराको कपट पेटारी बनाकर सरस्वती चली गयीं, अतः कपटकी पेटारीसे सत्यकी आशा कैसे की जा सकती है?

यहाँ मन्थराके मुखसे सरस्वतीके बोलनेकी कल्पना करके हठतः शङ्का उत्पन्न करना कि सरस्वती झूठ क्यों बोलीं अनुचित है। श्लेषद्वारा गुप्त अर्थ निकलनेपर भी झूठ सत्य नहीं हो जाता। उसे वञ्चिता वाणी कहते हैं। वह झूठ ही है। वञ्चिता, भ्रान्ता और प्रतिवन्ध्या वाणीकी गणना भगवान् व्यासने मिथ्यामें ही की है।

इसी भाँति *'भुआल'* शब्दका गुफा अर्थ करना, गुणियोंको सच्चा बनानेके लिये भी, षण्ड श्रम ही है। गुणियोंके सच्चे-झूठे होनेका प्रश्न तो तब उठे यदि वह (मन्थरा) गुणियोंके पास गयी भी हो। उसने तो लोगोंसे पूछा कि यह उछाह कैसा हो रहा है। पता लगा कि रामजीको तिलक होनेवाला है। उसका कलेजा जलने लगा, वह इस धुनमें लगी कि रातभरमें यह काम कैसे बिगड़े। अतः बिलखती हुई भरतकी माँके पास गयी। गुणियोंके पास जानेवाला किस्सा तो सीधा-सीधा उसका मनगढ़न्त है। इसे उसने तत्काल अपनी हितचिन्तकता द्योतनके लिये, रानीको ढाढ़स बँधानेके लिये, यथा—'पन्द्रह दिनसे राजतिलककी तैयारी हो रही है' इस झूठको सत्य सिद्ध करनेके लिये गढ़ लिया है। इससे भगवती सरस्वतीका उसे कपट पेटारी बनानेका साफल्य सिद्ध होता है।

भामिनि करहु त कहौं उपाऊ। हैं* तुम्हारी सेवा बस राऊ॥ ८॥

दो०—परउँ कूप तव बचन पर सकउँ पूत पति त्यागि।

कहसि मोर दुखु देखि बड़ कस न करब हित लागि॥ २१॥

शब्दार्थ—त=तो, यथा—*'नाहिं त मौन रहब दिन राती।'* तव बचन लगि=तेरे वचनोंसे, तेरा वचन रखनेके लिये।

अर्थ—हे भामिनी! आप करें तो मैं उपाय बताऊँ। राजा आपकी सेवासे आपके वशमें हैं॥ ८॥ (रानी बोली) मैं तेरे कहनेसे कुएँमें गिर सकती हूँ और अपने पुत्र और पतिको भी छोड़ सकती हूँ। तू मेरा भारी दुःख देखकर कह रही है, (फिर भला) अपने हित (भले) के लिये क्यों न करूँगी?॥ २१॥

टिप्पणी—१—*'भामिनि करहु त कहौं उपाऊ।'*······इति। (क) पूर्व जो कहा था कि ***'रूँधहु करि उपाउ बर बारी।'*** (१७। ८) वह उपाय अब कहती है। पर मन्थराको अभी एक सन्देह है कि कैकेयी रामके लिये वनवास न माँगेगी, इसीसे वह पहले उससे कबुलवाती है, वचनबद्ध कराती है कि *'करहु त कहौं'* न करना हो तो क्यों कहूँ, वचन व्यर्थ क्यों जाय! (ख)—*'हैं तुम्हारी सेवा बस राऊ'* यह उपाय है। अर्थात् जो मैं करनेको कहूँगी, उसकी सिद्धि राजाके अधीन है और राजा तुम्हारे वशमें हैं ही। [यथा—**'दयिता त्वं सदा भर्तुरत्र मे नास्ति संशयः। त्वत्कृते च महाराजो विशेदपि हुताशनम्॥ ···तव प्रियार्थं राजा तु प्राणानपि परित्यजेत्॥'** (वाल्मी० २। ९। २४-२५) अर्थात् तुम महाराजकी बड़ी प्यारी हो, इसमें मुझे किञ्चित् सन्देह नहीं है, राजा तुम्हारे लिये आगमें भी कूद सकते हैं, तुम्हारा प्रिय कार्य करनेके लिये प्राण भी छोड़ सकते हैं।—ये सब भाव इस चरणमें आ गये। इनके सम्बन्धसे *'भामिनी'* का भाव वही है जो **'न त्वां क्रोधयितुं शक्तो न क्रुद्धां प्रत्युदीक्षितुम्।' 'न ह्यतिक्रमितुं शक्तस्तव वाक्यं महीपतिः। मन्दस्वभावे बुध्यस्व सौभाग्यबलमात्मनः॥'** (वाल्मी० २। ९। २५-२६) (अर्थात् राजा तुम्हें न तो क्रोधित कर सकते हैं और न क्रोधित देख सकते हैं। वे तुम्हारी बात टाल नहीं सकते। अपने सौभाग्यका बल देखो), मन्थराके इन वचनोंका है। इससे यहाँ 'भामिनी' का अर्थ मानवती, क्रोधवती है जैसा पूर्व लिखा गया है। भाव यह है कि तुझे कोप और मान करना होगा। बस, इतनेसे ही सब कार्य सिद्ध हो जायगा।

वि० त्रि०—भाव यह कि षड्यन्त्र तुम्हारे वैरियोंने खूब रचा है, पर अब भी यह टूट सकता है।

* 'हइ'—राजापुर, काशी, रा० प्र०।

इसके टूटनेका एक उपाय है, पर वह तुम्हारा किया होगा नहीं। उसके तोड़नेके लिये बड़ी दृढ़ता और बड़ी कड़ाईकी आवश्यकता है। कितने प्रेमबन्धन तोड़ने पड़ेंगे, जो तुम न तोड़ सकोगी। अत: मैं उस उपायको मुखसे निकाल नहीं सकती। यदि मैंने उस उपायको कह दिया और तुम न कर सकी तो मेरी क्या दुर्दशा होगी, इसे कौन कह सकता है?

यदि तुम उसे करनेकी प्रतिज्ञा करो तो मैं बतलाऊँ। तुम्हारा काम राजासे निकलेगा। यद्यपि प्रपञ्च रचके, उन्होंने राजाको अपनाया है, पर तुमने राजाकी ऐसी सच्ची सेवा की है कि अब भी वे तुम्हारे वश हैं, तुम्हारे हाथके बाहर नहीं हैं और *'बेद बिदित संमत सबहीका। जेहि पितु देइ सो पावै टीका॥'* सम्पूर्ण चक्र तुम्हारा विरोध करके भी कुछ नहीं कर सकता। तुम्हारेमें कठोरता, दृढ़ता और स्नेहबन्धनविच्छेदकी क्षमता होनी चाहिये। इसीपर महारानी कैकेयी कहती हैं *'परउँ कूप तव बचन पर सकउँ पूत पति त्यागि।'*

टिप्पणी—२ *'परउँ कूप तव बचन पर·····'* इति। (क) *'तव बचन पर'*—भाव कि केवल तेरे वचनपर ये सब बातें कर सकती हूँ, तब भला अपने हितके लिये क्यों न करूँगी। (ख) कुएँमें गिरना देह और प्राणोंका देना है। देह और प्राणसे अधिक प्रिय कुछ नहीं होता, यथा—*'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।'* (१। २०८) अत: *'परउँ कूप'* कहकर प्रथम (परम प्रिय) देह और प्राणतक देनेको कहा। तब पुत्र और पतिको क्रमसे कहा। (प्राणोंसे कम प्रेम पुत्रमें है और पुत्रसे कम पतिमें। अत: प्राण, पुत्र और पतिको उसी क्रमसे कहा। किसीके कहनेपर कूएँमें गिर पड़ना मुहावरा है। भाव यह कि सब कुछ कर सकती हूँ, प्राणतक दे सकती हूँ।) (ग) *'कहसि मोर दुख देखि बड़·····'* भाव कि तू मेरा बड़ा दु:ख देखकर हित करनेको कहती है, अत: मैं तेरे वचनपर बड़ा दु:ख सह सकती हूँ। तू तो प्राण, पुत्र और पतिकी रक्षाकी बात कहती है तब भी क्यों न करूँगी?

नोट—कैकेयीकी यह सब गति (मरण, पुत्र और पति-त्याग) होगी—कोपभवनमें मन्थराके कहनेसे जाना और कलङ्कित होना—यह कुएँमें गिरने और प्राण हरण होनेके सदृश है। भरत जबतक रहे माँसे बोले नहीं, यथा—*'कैकेयी जौ लौं जियति रही। तौ लौं बात मातु सों मुँह भरि भरत न भूलि कहीं'*, *'तजेउ पिता प्रहलाद बिभीषण बंधु भरत महतारी।'* पतिने शरीर ही छोड़ दिया।—इस प्रकार सरस्वती दोनों ओरसे भविष्यत होनहार कह रही हैं। पुत्र और पतिको त्यागकर वह दु:खरूप कुएँमें गिरी। (पं० रा० कु०, मयङ्क)

***कुबरीं करि कबुली कैकेई। कपट छुरी उर पाहन टेई॥ १॥**
लखइ न रानि निकट दुख कैसें। चरइ हरित तिन बलिपसु जैसें॥ २॥
सुनत बात मृदु अंत कठोरी। देति मनहुँ मधु माहुर घोरी॥ ३॥

शब्दार्थ—**करि**=कसाइन; करके। **पाहन**=पाषाण, पत्थर, सिल्ली। **टेई**=टेती है, तेज करती है। **तिन** (तृण)=घास, तिनका। **माहुर**=विष, जहर। **घोरी**=घोलकर, मिलाकर। **बलिपसु**=वह पशु, जिसका बलिप्रदान होनेवाला हो; देवीको माना हुआ पशु।

अर्थ—कसाइन कुबरी, कैकेयी रूपिणी अधमरी बलिपशुके मारनेके लिये कपटरूपी छुरी हृदयरूपी सिल्लीपर तेज कर रही है॥ १॥ (पर) रानी अपने अत्यन्त निकटके दु:खको कैसे नहीं देखती जैसे बलिपशु हरी घास चरता है (पर यह नहीं जानता कि उसका बलिदान होनेको है, उसकी मृत्यु सिरपर खड़ी है)॥ २॥ उसकी बातें सुननेमें तो कोमल और मीठी हैं, पर उनका परिणाम कठोर (बुरा) है, मानो वह विषको शहदमें घोलकर दे रही है॥ ३॥

* १—'कुबरी करी कुबलि कैकेयी'—ना० प्र० सभाकी प्रतिमें है और उपर्युक्त पाठ राजापुर, काशिराज इत्यादिकी प्रतियोंमें है। 'कुबलि'=बुरी बलि। दीनजी कहते हैं कि बलि 'नर' जीवकी दी जाती है। 'स्त्री' 'जीव' होनेके कारण कैकेयीको 'कुबलि' कहा। सन् १९२२ में ना० प्र० ने राजापुरका ही पाठ रखा है।

टिप्पणी—१ *'कुबरीं करि कबुली कैकेई'* इति। पहले कैकेयी (इसके वचनको) नहीं कबूल (अङ्गीकार) करती थी अब उसने कबूल किया कि *'परउँ कूप तव बचन पर सकउँ पूत पति त्यागि।'*

नोट— इस चरणके अर्थ लोगोंने ये किये हैं—(१) कुबरी करिके (अर्थात् कुबरीद्वारा) कबुलवायी हुई कैकेयी (के मारनेके लिये)। (रा० प्र०) (२) **कबुली**=मानता, मानी हुई, कबूली हुई बलि। अर्थ—कुबरीद्वारा मानता मानी हुई जो बलिरूपी कैकेयी है उसके लिये। (रा० प्र०) (३) **कबुली**=राजी की हुई; पक्षीभेद। (गौड़जी) (४) **करि**=कसाई; गामरी, गौको मारनेवाली पापिनी। यथा—'**गोमरी करि चाण्डाली श्वानी महि बिभक्षिका भास्करेति।**' **कबुली**=बलिपशु। यथा—'**प्राणत्यागे पशुश्चैव सार्द्धत्यागे कबूलिका।**' इति (नन्दीकोश) यह अर्थ *'लखइ न रानि निकट दुख कैसे। चरइ हरित तिन बलिपसु जैसे॥'* के आधारपर है। (अ० दी० च०) मा० म० के टीकाकार लिखते हैं कि *'करि'* का अर्थ कसाइन वररुचिकोशमें कथित है और '**कबुली**' का अर्थ 'अधमरा बलिपशु' भास्करकोशमें है। (५) कुबरीने कैकेयीको कबूल करनेवाली बनाकर। (वीरकवि) (६) कुबरीने कैकेयीसे वचन हराकर। (अर्थात् उसको वचनबद्ध करके) (७) मन्थराने कैकेयीसे (पहले उपाय करनेको कहा), करनेको कबूल (स्वीकार) करा लिया। (पु० रा० कु०)

उपर्युक्त अर्थोंपर विचार करनेसे दो अर्थ होते हैं—(१) मन्थराने कैकेयीको वचनबद्ध करके। (२) मन्थरा-रूपी कसाइनने कैकेयीको बलिपशु बनाकर। अर्थ (२) में '**करि**' श्लेषार्थी है। 'कसाइन' और 'करके' दोनों अर्थ लिये गये हैं। ☞ दोनोंको मिलाकर एक अर्थ पूर्व संस्करणमें यह दिया गया था कि—'कुबरीने कैकेयीको देवीके आगे मानताकी कबूली हुई बकरी करके'। (३) पूरी अर्धालीका अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है— 'मन्थरा कसाइन है। कैकेयी मन्नत मानी हुई बलिपशु है। कपट छुरी है जो मन्थराके हृदयरूपी पाषाणपर टेयी गयी है।'

टिप्पणी—२ (क) *'कपट छुरी उर पाहन टेई'* इति। अर्थात् कपटको हृदयमें सुधारने लगी जिसमें कपटसे मेरा कहना सिद्ध हो जाय। मन्थराके कपटसे कैकेयीका घात (नाश) है। वह रानीको अपने कपटसे मारती है। इससे मन्थराके कपटको '**छुरी**' कहा। मन्थराका हृदय जड़ एवं कठोर है, अतः उसे '**पाहन**' कहा। (कपटको छुरीका रूपक दिया, अतएव मन्थराके हृदयपर पाषाणका आरोपण किया, क्योंकि छुरी पत्थरपर टेई जाती है जिससे धार तीक्ष्ण होती है। यहाँ 'परम्परित रूपक' है।) जब कैकेयीने अपने मुखसे मरनेतकको कह दिया तब मन्थरा वध करनेको तैयार हुई। पत्थरसे लोहा उत्पन्न होता है, यथा—*'कुलिस अस्थि तें उपल तें लोह कराल कठोर।'* (१७९) कपट हृदयसे उत्पन्न हुआ है (कपट कार्य है, हृदय कारण है), इसीसे कपटको छुरी और हृदयको पाषाण कहा। (ख) *'उर पाहन टेई'* इति। टेना (तेज करना, धार चढ़ाना) हृदयके भीतर है, इसीसे कैकेयीको नहीं सूझता। [टेना विचारना है। (रा० प्र०) अविचारोंको हृदयमें चैतन्य करना पत्थरपर घिसकर तीक्ष्ण करना है। (वि० टी०)]

टिप्पणी—३ *'लखइ न रानि·····'* इति। (क) दुःख सामने ही उपस्थित है। अत्यन्त निकट है, बस जबतक छुरी टेई, तेज की जा रही है, उतने ही समयकी देर है। बलिपशु हरी-हरी घास-पत्ती आदि चरता है, यह अपनेको पुत्रके राज्यका और सौतको दुःख होनेका सुख माने हुए है। (अर्थात् अपने पुत्रके राज्यसुखका अनुभव तथा भरत-राज्य होनेसे सौतको दुःख होगा, इससे जो हृदयमें सुख हो सकेगा उसका अनुभव करना हरित तृणका चरना है जिसमें वह मग्न है।) प्राण जाना ही चाहता है। पर वह नहीं देखती। *'दुइ बरदान भूप सन थाती। माँगहु आजु जुड़ावहु छाती॥'* (चौ० ५) मन्थराका यह उपदेश करना ही कैकेयीका वध करना है। अपयशकी प्राप्ति मरण है। यथा—*'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥'* (९५। ७)बलिदान देवीको दिया जाता है। यहाँ दोनों वरदानोंकी प्राप्तिकी आशा देवी है। यथा—*'तुलसी अद्‌भुत देवता आसा देवी नाम। सेएँ सोक समर्पई बिमुख भएँ अभिराम॥'* (दो० २५८) मन्थरा रानीको आशा दिखाकर मारना चाहती है, अर्थात् उसको अपयशभाजन बना रही है। (आशासे ही इसका नाश हुआ। कैकेयीका भावी दुःखको न लखकर प्रसन्न होना, इस साधारण बातकी विशेषसे समता दिखाना कि *'चरइ हरित तिन बलिपसु जैसे'* 'उदाहरण अलङ्कार' है।)

टिप्पणी—४ *'सुनत बात मृदु अंत कठोरी।.....'* इति। लोग बलिपशुके मुखमें शर्बत डालते हैं वैसे ही मन्थरा कैकेयीके मुखमें विष घोलकर मधु डालती है। यहाँतक रूपक है। पहले तो बात मृदु है पीछे कठोर है (अर्थात् उसका परिणाम बुरा है), जैसे माहुर मिला हुआ मधु पहले मीठा लगता है किंतु पीछे मार डालता है। प्रथम जो कहा है कि *'कपट छुरी उर पाहन टेई'* अर्थात् कपटको सुधारकर बोली; यही मारना है। उसीकी उपमा यहाँ *'देति मनहु मधु माहुर घोरी'* देते हैं। वचन मृदु हैं किंतु उनका परिणाम बुरा है इसीसे मधु घोलकर माहुर देना कहा। (धोखा देनेवाले ठग मधु वा किसी मीठी वस्तुमें विष मिलाकर देते हैं अतः यहाँ 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।)

नोट— वाल्मी० २। ९। ४ **'एवमुक्ता तु सा देव्या मन्थरा पापदर्शिनी। रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयीमिदमब्रवीत्॥'** (अर्थात् देवी कैकेयीके द्वारा ऐसा कही जानेपर बुरी बातोंमें तीव्र बुद्धि रखनेवाली (पापदर्शिनी) मन्थरा श्रीरामचन्द्रके अभ्युदयसे द्वेष करती हुई बोली) के 'पापदर्शिनी' और उपहिंसन्ती' शब्दोंके भावको यहाँ व्यासने रूपकालङ्कारमें कैसे विचित्ररूपसे वर्णन किया है यह विचारने योग्य है। ☞ इस श्लोकको वाल्मीकिजीने दो बार लिखा है, यही चौथा और दसवाँ श्लोक है। वैसे ही मानसके आदिमें *'कपट छुरी उर पाहन टेई।.....'* और फिर अन्तमें *'देति मनहु मधु माहुर घोरी'* है। जैसे वहाँ दोनोंके बाद वरदानकी कथा है वैसे ही यहाँ।

कहइ चेरि सुधि अहइ कि नाहीं। स्वामिनि कहिहु कथा मोहि पाहीं॥ ४॥
दुइ बरदान भूप सन थाती। माँगहु आजु जुड़ावहु छाती॥ ५॥
सुतहिं राज रामहिं बनवासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू॥ ६॥
भूपति रामसपथ जब करई। तब माँगेहु जेहि बचन न टरई॥ ७॥

शब्दार्थ—**थाती**=(स्थिति) धरोहर, बन्धक, अमानत। छाती जुड़ाना=कलेजा ठंडा करना; मुहावरेमें चित्त प्रसन्न करनेको कहते हैं। हुलास=उल्लास,आनन्द। **टरई**=टले।

अर्थ—चेरी मन्थरा कहती है कि हे स्वामिनी! आपने मुझसे एक कथा कही थी, उसकी आपको सुधि (याद) है कि नहीं?॥ ४॥ अपने दो वरदान जो राजाके पास धरोहर हैं, उनको राजासे आज माँगकर अपनी छाती ठंडी कीजिये॥ ५॥ पुत्रको राज्य दीजिये और रामको वनवास (इस प्रकार) सब सौतोंका आनन्द ले लीजिये॥ ६॥ राजा जब रामजीकी सौगन्ध खा लें तब वर माँगियेगा जिसमें वचन न टलने पावे॥ ७॥

टिप्पणी— १ *'कहइ चेरि सुधि अहइ कि नाहीं।.....'* इति। (क) भाव कि इस कथाको कहे हुए बहुत वर्ष बीत गये इससे सुध दिलाती है। *'सुधि अहइ कि नाहीं'* अर्थात् मुझे तो याद है, तुम्हें याद है कि नहीं। मन्थराने प्रथम कैकेयीको कबुलवा लिया, वचनबद्ध कर लिया कि करेगी तब उपाय बताया कि राजा तुम्हारे वशमें हैं। इसी तरह यहाँ उसने प्रथम कथाकी सुध दिलाकर तब वर माँगनेको कहा। (*'सुधि अहइ कि नाहीं'* में यह भी भाव है कि क्या तुम्हें स्मरण नहीं है, तुमने ही तो हमसे कहा था, अतः तुम्हें अवश्य स्मरण होगा। ऐसा तो नहीं है कि स्मरण होनेपर भी तुम मुझसे छिपा रही हो। जो उपाय तुम्हें कहना चाहिये था वह तुम मुझसे पूछना चाहती हो? यथा—**'किं न स्मरसि कैकेयि स्मरन्ती वा निगूहसे। यदुच्यमानमात्मार्थं मत्तस्त्वं श्रोतुमिच्छसि॥'** (वाल्मी० २। ९। ६) यदि तुम मेरे ही द्वारा सुनना चाहती हो तो सुनो, यथा—**'मयोच्यमानं यदि ते श्रोतुं छन्दो विलासिनि। श्रूयतामभिधास्यामि.....।'** (श्लो० ७)*'कहिहु मोहि पाहीं'*—अर्थात् मुझे मालूम न थी, तुम्हारे बतानेसे मैंने जाना था और तुम्हारे प्रति प्रेम होनेसे मैंने याद रखी। यथा—**'अनभिज्ञा ह्यहं देवि त्वयैव कथितं पुरा॥' कथैषा तव तु स्नेहान्मनसा धार्यते मया।'** (वाल्मी० २। ९। १८-१९) (इससे यह भी जनाती है कि देखो मेरा कैसा स्नेह तुमपर है। स्मरण न रखती तो इस समय तुमपर बड़ा संकट पड़ जाता।)

(ख)—*'आजु'*—आज ही माँगो क्योंकि सबेरा होते ही कल रामराज्याभिषेक हो जायगा तब कुछ उपाय न चलेगा। राजाके वशकी बात ही न रह जायगी। (ग) *'जुड़ावहु छाती'*— कैकेयीकी छाती जल रही है, यथा—*'अस अभिलाषु नगर सब काहू। कैकयसुता हृदय अति दाहू॥'* (२४। ७) अतः कहती है कि बस आज ही वर माँग लो, सब जलन दूर हो जायगी, छाती ठंडी हो जायगी। माँगने ही भरकी देर है।

नोट—वरदान किस बातपर देनेका एकरार (प्रतिज्ञा) हुआ, इस विषयमें कथाएँ भिन्न-भिन्न मिलती हैं। १—वाल्मीकीयमें कथा इस प्रकार है कि दक्षिण दिशामें दण्डकारण्यमें वैजयन्त नामक एक प्रसिद्ध नगर है, जहाँ तिमिध्वज असुर रहता था जिसका दूसरा नाम 'शंबर' विख्यात था। वह महासुर सैकड़ों प्रकारकी माया जानता था। देवता उसे पराजित न कर सके तब वह इन्द्रसे संग्राम करनेको तैयार हुआ। उस बड़े भारी देवासुर-संग्राममें क्षत-विक्षत पुरुषोंको रातमें सोते समय राक्षस लोग बिछौनेसे खींचकर मारा करते थे। इन्द्रने राजासे सहायता माँगी। यथा—'**इन्द्रेण याचितो धन्वी सहायार्थं महारथः।**' (अ० रा० २। २। ६६) अन्य राजर्षियोंके साथ तुम्हारे पति महाबाहु राजा दशरथ भी तुमको साथ लेकर इन्द्रकी सहायताके लिये गये और उन्होंने राक्षसोंके साथ घनघोर युद्ध किया। राजा युद्धमें घायल होकर मूर्छित हो गये। [सारथी भी मारा गया। तब तुमने सारथीका काम किया। (प्र० सं०)] तब तुम राजाको संग्रामभूमिसे निकालकर दूर ले गयीं। इस प्रकार तुमने शस्त्रोंसे घायल हुए अपने पतिकी रक्षा की। उस समय राजाने प्रसन्न होकर इसके प्रत्युपकारमें दो वर माँगनेको कहे। तुमने कहा कि जब चाहूँगी तब माँग लूँगी (आपके पास ये थाती रहें)। राजाने तुम्हारी बात मान ली। (वाल्मी० २। ९। ११—१७) अ० रा० में धरोहर स्पष्ट कहा है। यथा—'**त्वय्येव तिष्ठतु चिरं न्यासभूतं ममानघ। यदा मेऽवसरो भूयात्तदा देहि वरद्वयम्॥**' (२। २। ७२)

२— अध्यात्मरामायण सर्ग २ में लिखा है कि '**तदाक्षकीलो न्यपतच्छिन्नस्तस्य न वेद सः। त्वं तु हस्तं समावेश्य कीलरन्ध्रेऽतिधैर्यतः॥**' (६८) अर्थात् देवासुर-संग्राममें युद्ध-समय रथके धुराकी कील क्षीण होकर गिर पड़ी, राजाको इसकी खबर न हुई। उस समय तुमने बड़े धैर्यसे काम लिया, अपना हाथ कीलके छिद्रमें डालकर तुमने रथके पहियेको निकलनेसे रोका और रथको संग्रामभूमिमें थाँमे हुए राजाकी रक्षा की। शत्रुओंपर जय प्राप्त होनेपर राजा तुमको धुरेके छेदमें हाथ डाले देख आश्चर्यमें हो बड़े प्रसन्न हुए। तुम्हें गले लगाकर कहा कि मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ, जो चाहो दो वर माँग लो।

३—तीसरी कथा यह कही जाती है कि दशरथ महाराजकी उँगलीमें विस्फोटक नामक रोग हुआ जिसमें बड़ी जलन होती थी। उन्हें यह ज्ञात हुआ कि यदि कैकेयीके मुँहमें उँगली रहे तो उसमें जलन न होगी। अतएव कैकेयीसे कहा गया, उन्होंने स्वीकार कर लिया और मुखमें उँगली डालनेसे सचमुच जलन मिट गयी। तब प्रसन्न हो राजाने दो वरदान माँगनेको कहा था….।

विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि कैकेयीने राजाके फोड़ेको चूसकर अपने अधरामृतसे राजाको चंगा कर दिया था। इसपर उन्होंने वरदान माँगनेको कहा।

४—बाबू श्यामसुन्दरदासजी लिखते हैं कि कहीं यह कथा है कि एक ऋषि सोये हुए थे और कैकेयीने उनके मुँहमें स्याही लगाकर काला मुँह कर दिया था, उन्होंने क्रोधसे शाप दिया था कि तुझे ऐसा कलङ्क लगेगा कि कोई तेरा मुख न देखेगा। फिर ऋषिने अपना दण्ड माँगा तो कैकेयीने दे दिया। इसपर संतुष्ट होकर उन्होंने वर दिया कि तू चाहेगी तब तेरा हाथ लोहदण्डका काम देगा। अतः, इस संग्राममें रथके चक्रमें उसके हाथने लोहेकी कीलका काम किया।

टिप्पणी— २ *'दुइ बरदान भूप सन थाती। माँगहु….'* इति। (क) *'थाती'*—भाव कि यदि ऐसे ही राजासे माँगोगी कि भरतको राज्य दो और रामको वन दो तो राजा न देंगे। जब यह कहोगी कि पूर्व आपने मुझे दो वर देनेको कहे थे, मैंने आपके पास थातीरूपसे उन्हें रख दिया था कि जब इच्छा होगी तब माँग लूँगी। आज मैं माँगना चाहती हूँ, अतः आज ही आप दें; तब मिलेगा।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—१ मूलविषय यहाँ राजतिलक है, इसलिये पहिले *'सुतहि राज'* कहा। वह

राज्य बिना रामके वनवासके निष्कण्टक हो नहीं सकता। क्योंकि तिलक देते ही गृह-कलहकी आशङ्का है। **'क्षत्रियाणामयं धर्मो येत्प्रजापरिपालनम्। वधश्च धर्मयुद्धेन स्वराज्यपरिपन्थिनाम्॥'** (वि० पु० ६। ७। ३) क्षत्रियोंका यह धर्म है कि प्रजाका परिपालन करें और धर्मयुद्धसे अपने राज्यके कण्टकोंका वध करें। इस वचनके अनुसार सम्भव है कि धर्मात्मा रामचन्द्र भी युद्धके लिये कटिबद्ध हो जायँ। अतः भरतके राज्यकी स्थिरताके लिये रामजीका वनवास उतना ही आवश्यक है। इस भाँति मन्थराने यह समझाया कि जिस दुःखकी कामना कौशल्याने तुम्हारे लिये की थी वह स्वयं कौशल्याके सिर पड़ेगा और जो सुख अपने लिये चाहा था, वह सब तुम्हें मिलेगा। तुम्हारे वैरियोंकी सब बात ही उलटी पड़ जायगी।

टिप्पणी—३ *'सुतहि राज रामहिं बनबासू।'''* इति।—पहले राज्य दिलानेका वर माँगनेको कहती है; क्योंकि यदि पहले वनवासका वर माँगेगी तो राजा मूर्छित हो जायँगे तब भरतको राज्य कौन देगा? रामके घरपर रहनेसे सौतका उल्लास बना रहेगा, वनवाससे सब आनन्द जाता रहेगा (काष्ठजिह्वा स्वामीजी कहते हैं कि रामके रहनेसे प्रजामें दो भाग हो जायँगे, कुछ रामका पक्ष लेंगे, कुछ भरतका; इससे रामको वनवास दिलाती है)।

टिप्पणी—४ *'भूपति राम सपथ जब करई'''* इति। (क) मन्थराको विश्वास नहीं है कि राजा श्रीरामजीको वन देंगे। वचन भले ही छोड़ दें पर रामको वनवास दें यह असम्भव है; क्योंकि राम उनको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं। अतः कहती है कि जब रामकी शपथ करें तब माँगना जिसमें अपने वचनसे न टलें। (ख) *'जब करई'*—अर्थात् वे रामशपथ भी जल्दी न करेंगे। यथा—*'तेहिपर राम सपथ करि आई।'* (२८। ७) *'करि आई'* का भाव यही है कि भावीवश उनके मुखसे शपथ निकल गयी नहीं तो वे रामशपथ तो कभी भी न करते; यथा—*'राम सपथ मैं कीन्ह न काऊ।'* (ग) मन्थराके कथनका सारांश यह है कि प्रथम वरको स्मरण कराना; वर न माँगना। (जब रामशपथ कर लें तब वर माँगना। पहले भरत राजा हों यह माँगना, पीछे राम वन जायँ यह माँगना। (घ) *'तब माँगेहु'* में ध्वनि यह है कि तबतक मौन ही रहना वर न माँगना। (ङ) भरतको राज, रामको वनवास देकर अपना दुःख सवतिको दो और उसका सुख तुम ले लो; 'परिवृत्त अलङ्कार' है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—मन्थरा सावधान करती है कि जैसे मैंने तुमसे प्रतिज्ञा करा लिया तब उपाय बतलाया, उसी भाँति तुम भी तब वरदान माँगना जब राजा रामजीकी शपथ ले लें। यदि तुम राजासे शपथ लेनेके पहिले कह दोगी तो वचन प्रमाण न माना जायगा। गुरु वसिष्ठ और मन्त्री सुमन्त्र आदि कहेंगे कि स्त्रीके साथ नर्ममें कहे हुए वचन प्रमाण नहीं होते। यदि राजा रामजीकी शपथ ले लेवेंगे, तब नर्मवाला झगड़ा न उठ सकेगा और राजा लाचार होकर भरतको राज और रामजीको वनवास देवेंगे।

होइ अकाजु आजु निसि बीते। बचनु मोर प्रिय* मानेहु जी तें॥ ८॥

दो०—बड़ कुघातु करि पातकिनि कहेसि कोपगृह जाहु।
काजु सँवारेहु सजग सबु सहसा जनि पतिआहु॥ २२॥

शब्दार्थ—**अकाजु**=कार्यकी हानि। **कोपगृह**=कोपभवन, क्रोधघर। राजमहलोंमें प्रायः एक कोठरी शयनागारके पास ही रहती है, जिसमें रानियाँ राजासे रूठ जानेपर अथवा अपने किसी मनोरथकी सिद्धि-हेतु कुसाज सजकर जा पड़ती हैं। इस कोठरीकी सजावट भी कोप प्रकट करनेवाली ही वस्तुओंसे की जाती है। इस प्रकार राजा देखते ही समझ जाते हैं कि आज रानी किसी कारणसे रूठी हैं। यहाँ दिव्य वस्त्र-भूषण-शृङ्गार सब उतार मैले वस्त्र पहिनकर भूमिमें लेटा जाता है। **प्रिय**=हितकर, प्यारे, सत्य। **जी**=प्राण, हृदय। **तें**=से। **पातकिनि**=पापिनी। **कुघात**=बुरी घात। **घात**=दाँव, पेंच, चाल। **सजग**=सावधानीसे, चैतन्यतासे। **सहसा**=एकबारगी। **पतिआहु**=(सं० प्रत्ययन) विश्वास करो।

* फुर—छं०।

अर्थ—आजकी रात बीत जानेसे काम बिगड़ जायगा, मेरी बातको प्राणोंसे भी (वा हृदयसे) प्रिय समझना॥ ८॥ उस पापिनीने कैकेयीपर बड़ी बुरी घात लगाकर उससे कहा कि कोपभवनमें जाओ, सब काम सावधानीसे सँभालना-सुधारना, एकबारगी राजापर विश्वास न कर लेना (अथवा उनकी बातोंमें न आ जाना)॥ २२॥

टिप्पणी—१ *'होइ अकाजु आजु निसि बीते।……'* इति। (क) *'माँगहु आजु', 'आजु निसि बीते',* इस तरह बार-बार *'आजु'* कहकर कैकेयीको सावधान करती है *'आजु निसि बीते'*—अर्थात् यदि आज रातभरमें तुमने उपाय न कर लिया, राजासे दोनों वर न माँग लिये तो फिर बड़े सबेरे ही रामराज्याभिषेक हो जायगा। तब कोई उपाय न चलेगा तथा न लगेगा। भाव यह कि यदि राजा कहें कि फिर कभी दो-एक दिनमें वर देंगे तो न मान लेना, कहना कि देना हो तो अभी दे दो, मैं पीछे न लूँगी। यदि उनकी बात मान लोगी तो 'अकाज' हो जायगा। हमारी बात न मानोगी तो 'अकाज' होगा। यही समझानेके लिये कहती है कि *'बचन मोर……।'* (पुनः, *'आजु निसि बीते'* का भाव कि तुमको *'नींद बहुत प्रिय सेज तुराई।'* (१४। ६) अतः कहीं सो न जाना।) (ख) *'बचन मोर प्रिय मानेहु जी तें,'*—प्रथम जब मन्थराने कैकेयीको *'रामतिलक'* का समाचार सुनाया तब उन्होंने उसे असत्य माना था; यथा—*'सुदिन सुमंगलदायक सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई॥'* मन्थराके वचनको झूठा मानती थी, यथा—*'भरत सपथ तोहि सत्य कहु परिहरि कपट दुराउ।'* अतएव मन्थरा कहती है कि अन्तःकरणसे मेरे वचनोंको सत्य मानो (प्राणोंसे भी अधिक समझकर इन वचनोंकी रक्षा करना। आज रातभरमें काम बना लेना, चूकना नहीं। यहाँ 'तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग है')।

टिप्पणी—२ *'बड़ कुघातु करि'* इति। (क) भरतराज्य और रामवनवास माँगनेका उपदेश करना वध करना है। अतः जब उपदेश कर चुकी तब कहते हैं कि उसने बड़ा कुघात किया, अर्थात् छुरीसे सिर काट लिया। (ऊपर कैकेयीको बलिपशु कह आये ही हैं। पुनः इसने अपने अन्नदाता, पालन-पोषणकर्तापर घात किया।) अतः इसे *'पातकिनि'* पापिनी कहा। (ख) *'कोपगृह जाहु'*—भाव कि कोप करनेसे राजा मनावेंगे, वर देंगे, यह सब काम कोपभवनमें जानेसे सिद्ध होगा। [कोपभवनमें जानेको कहा, जिसमें कैकेयीको कुछ कहना न पड़े, राजा स्वयं ही जाकर पूछें और मनावें। राजभवनमें रहनेसे रानीको अपनेहीसे वरके लिये राजासे कहना पड़ेगा जो उचित न होगा।] (ग)*'काज सँवारेहु सजग सबु'*—भाव कि मैं वहाँ न होऊँगी, वहाँ रहती तो बराबर शिक्षा देती रहती, इसलिये तुम सावधान रहकर सब काम सँवारना। राजाका शीघ्र विश्वास न मान लेना; यही सब कार्यका सुधारकर कर लेना है। (घ) *'सबु काजु*—अर्थात् थातीकी सुध दिलाना; राजाकी बातोंमें न आ जाना; राजा रामशपथ कर चुकें तब वर माँगना; प्रथम भरतके लिये राज्य माँगना, पीछे रामको वनवास हो यह माँगना; आज रात्रिमें ही यह सब कार्य कर लेना। भरतको राज्य, रामको वनवास (देकर) सौतको दुःख और अपने लिये सुख उत्पन्न कर लो। (ङ) *'सहसा जनि पतिआहु'*—भाव कि राजा कपटी हैं, यथा—*'लखहु न भूप कपट चतुराई।'* (१४।६) अतएव वे शीघ्र विश्वास करने योग्य नहीं हैं।

नोट—१ वाल्मी० २। ९। ५४ के **'गतोदके सेतुबन्धो न कल्याणि विधीयते** (अर्थात् जलके चले जानेपर बाँध नहीं बाँधा जाता) का भाव *'होइ अकाजु आजु निसि बीते'* में है।

नोट—२*'होइ अकाजु आजु निसि बीते'* का सरस्वतीकृत अर्थ यह है कि आजकी रात बीतनेपर सौतोंका हुलास जायगा, राम वन जायँगे तब राजा प्राण त्याग देंगे, तुम्हारी सौतें विधवा होंगी और उसके साथ तुम्हारा भी अकाज होगा, तुम भी विधवा होगी। और दूसरा अकाज यह होगा कि भरतको राज्यकी प्राप्ति नहीं होगी। (अ० दी०)

कुबरिहि रानि प्रान प्रिय जानी। बार बार बड़ि बुद्धि बखानी॥ १॥
तोहि सम हित न मोर संसारा। बहे जात कइ भइसि अधारा॥ २॥

जौं बिधि पुरब मनोरथु काली। करौं तोहि चखपूतरि आली॥ ३॥
बहु बिधि चेरिहि आदरु देई। कोपभवन गवनी कैकेई॥ ४॥

शब्दार्थ—**हित**=हितु, हितैषी, भलाई चाहनेवाला। **भइसि**=(तू) हुई। **अधारा**=सहारा, आधार। **पुरब**=पूरा करे। **चखपूतरि**=(चक्षु-पुत्तली) आँखकी पुतली। आँखकी पुतली बनाना' यह मुहावरा है; अर्थात् आँखकी पुतलीके समान अत्यन्त प्रिय बनाकर रखना, बहुत ही प्रिय बना लेना। पूरी तरहसे रक्षा और प्रेम करना, यथा—'*राखेहु नयन पलक की नाईं।*' (१। ३५५), '*नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई।*' (५९। २) **गवनी**=गयी।

अर्थ— कुबरी मन्थराको रानीने प्राणप्रिय समझ बारम्बार उसे बड़ी बुद्धिवाली कहकर उसकी (वा, उसकी उत्तम बुद्धिकी) सराहना करने लगी॥ १॥ तेरे समान संसारमें मेरा कोई भी हितैषी नहीं है। तू मुझ बही जाती हुईको सहारा हो गयी॥ २॥ यदि विधाता कल मेरा मनोरथ पूरा करें तो हे सखी! मैं तुझे अपने आँखकी पुतली बनाऊँ॥ ३॥ (इस प्रकार) बहुत प्रकारसे दासीका आदर करके कैकेयी कोपभवनको गयी॥ ४॥

टिप्पणी—१ '*कुबरिहि रानि प्रान प्रिय जानी।*……' इति। (क) प्राणप्रिय जाननेका कारण आगे रानी स्वयं कहती हैं कि '*तोहि सम हित न मोर संसारा*'।' हित करनेवाला प्राणसमान प्रिय होता है। बहे जाते हुएके प्राण जाते हैं, उसे जो बचाता है वह उसका प्राणदाता होता है और प्राणदाता होनेसे प्राणप्रिय होता है। तूने मेरे प्राण बचाये अतः तू मुझे प्राणप्रिय है। (यहाँ '*प्रान प्रिय जानी*' कविके वचन हैं और अ० रा० में '**मम त्वं प्राणवल्लभा।**' (२। २। ७८) कैकेयीके वचन हैं।) (ख)'*बार बार बड़ि बुद्धि बखानी*'—अनेक प्रकारकी बुद्धिमत्ता समझकर बारम्बार बुद्धिकी प्रशंसा करती है। जैसे कि—कौसल्याकी चतुरता लख लेनेमें बुद्धिकी बड़ाई की; उपाय बतानेमें बुद्धिकी सराहना की; इत्यादि। (ग) '*कुबरिहि*' कहकर '*बुद्धि बखानी*' कहनेका भाव कि तेरे कूबड़में बुद्धि भरी हुई है।

नोट—१ जो प्रिय होता है उसमें सब गुण-ही-गुण देख पड़ते हैं। इसी प्रकार '*कुबरिहि बखानी*' का भाव कि यद्यपि वह कुरूपा है, मन्दबुद्धि है (यथा—'*नाम मंथरा मंदमति*', '*करइ बिचारु कुबुद्धि कुजाती*', '*कूबरे कुटिल कुचाली जानि*', '*करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा*') तथापि मन्थरा कैकेयीको बहुत सुन्दर लग रही है, यथा)'**त्वं पद्ममिव वातेन संनता प्रियदर्शना**', '**विमलेन्दुसमं वक्त्रम्**' (वाल्मी० २। ९। ४१—४३। वाल्मी० २। ९। ४१—४५में) उसके अङ्गोंकी सुन्दरताकी प्रशंसा रानीने की है। वे सब भाव '*कुबरिहिं प्रानप्रिय जानी*' से जना दिये। '*बार बार बुद्धि बखानी*', यथा—'**आसन् याः शम्बरे मायाः सहस्रमसुराधिपे॥ ४५॥ हृदये ते निविष्टास्ता भूयश्चान्याः सहस्रशः। तदेव स्थगु यद्दीर्घं रथघोणमिवायतम्॥ ४६॥ मतयः क्षत्रविद्याश्च मायाश्चात्र वसन्ति ते।**' (वाल्मी० २। ९ अर्थात् असुरराज शम्बरसे हजारों गुणा मायाएँ तुम जानती हो। ये सब तुम्हारे हृदयमें भरी हैं, इसीसे रथके आगेवाले भागके समान तुम्हारी छाती लम्बी और बड़ी हो गयी है। तेरे हृदयमें बुद्धि, वीरता और मायाका निवास है)। पुनश्च यथा—'**एवं त्वां बुद्धिसम्पन्नां न जाने वक्त्रसुन्दरि॥ ७७॥ कुतस्ते बुद्धिरीदृशी॥ ७६॥** अ० रा०।' अर्थात् हे वक्त्रसुन्दरि! मैं जानती थी कि तू इतनी बुद्धिमती है। तुझमें ऐसी बुद्धि कहाँसे आ गयी।—ये सब भाव इस चरणमें जना दिये। '**वक्त्रसुन्दरि**' में ध्वनि यह है कि तेरा यह कूबड़ नहीं है किंतु बुद्धिका कोष है।

टिप्पणी—२ '*तोहि सम हित न मोर संसारा।*…' इति। (क) भाव कि संसारमें माता, पिता, भाई आदि हित थे, पर तेरी बराबरीका हितैषी कोई नहीं है; क्योंकि तू तो मेरा गया हुआ राज्य मुझे दे रही है, दिन दूना सुख-सुहाग दे रही है, मुझे दासी होनेसे और मेरे पुत्रको बन्दिगृहसे बचा रही है। (यथा—'**त्वमेव तु ममार्थेषु नित्ययुक्ता हितैषिणी।**' (वाल्मी० २। ९। ३९) अर्थात् तुम्हीं मेरी हितैषिणी हो; सदा मेरे हितमें तत्पर रहती हो।)

नोट—१'*बहे जात कइ भइसि अधारा*' इति। बहे जाते हुएको तिनकेका सहारा बहुत हो जाता है, यह मुहावरा है। नदी या किसी बहते जलमें जब किसीका पैर उखड़ जाता है और वह प्रवाहमें बहता

जा रहा हो तब यदि उसे किनारेकी घास-फूस जमी हुई अथवा कोई लकड़ी, उथली भूमि, नाव इत्यादि कुछ भी वस्तु उसके बचावके लिये मिल जाती है तो वह उसे, बचनेकी आशा करके पकड़ लेता है और उसके सहारे बहुधा बच भी जाता है। यथा—*'तुलसी तृन जल कूलको निरधन निपट निकाज। कै राखै कै सँग चलै बाँह गहेकी लाज॥'* (दो० ५४४) रानी कहती है कि सौतोंके ईर्ष्यावश मेरा राजपाट, मेरी स्वतन्त्रता इत्यादि सब डूबी जाती थी, मुझे सदाके लिये उन्होंने विपत्ति-बीज बो दिया था, उनसे तूने बचाया। अब मैं सौतोंद्वारा ढ़ायी जानेवाली विपत्तिसे बच जाऊँगी, बहुतेरे नौकर-चाकर रहे पर किसीने हमको सावधान न किया, बचाना तो दूर रहा, एक तूने ही उपदेश देकर मुझे प्राण दिये। (मन्थरा दासी है, तृणवत् है, पैरोंतले कुचली जानेवाली घासके समान है।) बहतेको जैसे तुच्छ घास सहारा होती है, वैसे ही तू मुझे हुई। यहाँ 'ललित अलङ्कार' है।

वि० त्रि०—जो बात मन्थरा रानीके हृदयमें जमाना चाहती थी, वह जम गयी। अब उसने निश्चय कर लिया कि संसारमें मेरा हितू मन्थराके समान कोई नहीं है, अब वह न किसीकी बात सुनेगी न किसीपर विश्वास करेगी, अपने मुखसे कह दिया कि *'तोहि सम हित न मोर संसारा।'* कारण भी देती है कि *'बहे जात कर भइसि अधारा।'* मैं तो प्रवाहमें पड़ी बही जाती थी। यथा—*'सुदिन सुमंगलदायक सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई॥ जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुलरीति सुहाई॥ राम तिलक जौं साँचेहु काली। देउँ माँगु मन भावत आली॥'* मुझे इस बातका ध्यान भी नहीं था कि इससे मेरी कोई हानि होगी। इतने शुभचिन्तक कहलानेवाले थे, पर किसीने मेरे लाभ-हानिका खयाल न किया, किसीने मुझे बहे जानेसे रोका नहीं। बहे जानेमें रुकावट डालनेवाला ही आधार होता है, अत: रानी कहती है कि केवल तू ही मुझ बहते हुएको आधार मिल गयी। अत: संसारमें बड़ी भारी हितचिन्तक मेरी तू ही है।

टिप्पणी—३ *'जौं बिधि पुरब मनोरथ'*...... इति। (क) मनोरथके पूर्ण होनेमें निश्चय नहीं है, राजा रामको बनवास देंगे इसमें सन्देह है, इसीसे *'जौं पुरब'* कहा। मनोरथकी पूर्ति विधाताके अधीन है; क्योंकि वे ही कर्मफलदाता हैं। (ख) *'करौं तोहि चखपूतरि आली'* आँखकी पुतली बनाना मुहावरा है। अर्थात् तेरा अत्यन्त दुलार करूँगी। (ग) कैकेयीने मन, वचन और कर्म तीनोंसे अपना प्रेम दिखाया। मनसे प्राणप्रिय जाना, वचनसे प्रशंसा की और कर्मसे आँखकी पुतली बनानेको कहा। [(घ)—वाल्मी० २। ९ में जो कहा है कि 'तुम्हें प्रधान पद मिलेगा।' अपनेसे द्वेष रखनेवालोंके सामने तुम अहङ्कार कर सकोगी। जैसे तुम मेरी सेवा किया करती थीं वैसे ही अन्य कुब्जाएँ तुम्हारी सेवा किया करेंगी। तुम्हारी छाती सोनेके गहनोंसे भर दूँगी, मुखपर सुन्दर सोनेका तिलक लगवा दूँगी। उत्तम-उत्तम भूषण-वस्त्रसे तुम्हें सजा दूँगी। (श्लोक ४८—५२) वह सब *'करौं चखपूतरि'* में आ गये। फिर भी मानसके *'आली'* सम्बोधनमात्रमें जो गौरव है, जितना भाव है उसको उपर्युक्त उद्धरण नहीं पा सकता। वहाँ वह फिर भी दासी ही रहेगी और यहाँ तो बराबरकी प्राणप्रिय सखी ही हो जायगी।]

नोट २—कैकेयीका मनोरथ तो पूरा न हुआ, भरतने राज्य नहीं लिया, हाँ, राम वनको गये। मुख्य मनोरथ तो छूँछा ही पड़ा तब तो *'करौं तोहि चखपूतरि'* झूठा हुआ? इस शंकाके निवारणार्थ सरस्वतीकृत अर्थ यह किया जाता है कि पुतली काली होती है, और राज्याभिषेक न होनेसे उसके मुखमें कालिख लगेगी। यही 'चखपूतरि करना' हुआ।

वि० त्रि०—*'करौं तोहि चखपूतरि आली'* इति। मैं तुझे मनोवाञ्छित देनेको प्रस्तुत थी, यथा—*'रामतिलक जौं साँचेहु काली। देउँ माँगु मनभावत आली॥'* पर उसपर ध्यान न देकर तूने मेरा भला देखा, अत: अब कहती हूँ कि कल यदि ब्रह्मदेवने मेरा मनोरथ पूरा किया, अर्थात् भरतको राज्य और रामको वनवास हुआ तो तुझे आँखकी पुतली बनाऊँगी। आँखकी पुतलीद्वारा ही सब कुछ देखा जाता है। सो आँखकी पुतली बनानेसे तात्पर्य यह है कि जैसा तू कहेगी वैसा ही सदा मानूँगी, तेरे ही आँखसे सब कुछ देखूँगी। तूने ही मुझे इस समय आँख दिया, नहीं तो यह षड्यन्त्र मुझे न सूझता, अत: सदाके लिये मैं तुझे आँखकी पुतली बनाऊँगी। यदि मनोरथ न पूरा हुआ, तबकी बात दूसरी है, तब तो मैं ही कुछ न रह जाऊँगी, आँखकी पुतली बनाकर क्या करूँगी?

वि० त्रि०—*'बहु बिधि चेरिहि आदर देई।'* चेरीको बहुत प्रकारसे आदर दिया, अर्थात् 'आजसे तू चेरी नहीं है, तू मेरी सखी है, मन्त्री है' ऐसा कहकर, जिन वस्त्र-आभरणके पहिननेका दासियोंको अधिकार नहीं है, जिन वसन-आभूषणोंको सरदारों अथवा मन्त्रीकी स्त्रियाँ ही धारण कर सकती हैं, यथा पैरमें सोनेका तोड़ा आदि, वे सब वसन-आभूषण मन्थराको देकर, उसे मन्त्री-पद देकर तब कैकेयी कोपभवनमें गयी। मिलान कीजिये—*'तेहि अवसर कुबरी तहँ आई। बसन बिभूषन बिबिध बनाई॥ लखि रिस भरेउ लखन लघु भाई। बरत अनल घृत आहुति पाई॥'* यहाँ लखनेका भाव ही यही है कि आज यह इस ठाठ-बाटसे राजमाताके मन्त्रीका पद सँभालने आयी है।

टिप्पणी—४ *'बहुबिधि चेरिहि आदरु देई'''''* इति। (क) *'बहुबिधि'*—प्राणप्रिय जाना; बुद्धिकी बड़ी प्रशंसा की; उसको अपना आधार बताया; उसे आँखकी पुतली बनानेको कहा; इत्यादि 'बहुत विधि' का आदर है। (ख) *'चेरिहि आदरु देई'*—भाव कि यद्यपि दासी है तो भी इसकी समझमें उसने बड़ा काम किया है, अतः उसको प्रसन्न करनेके लिये उसका इतना आदर कर रही है (नहीं तो चेरीका आदर कौन करता है)। [(ग) वाल्मी० २। ९। ३८ **'कैकेयी विस्मयं प्राप्य परं परमदर्शना॥'** से लेकर **'पादौ परिचरिष्यन्ति यथैव त्वं सदा मम।'** (५२) तक जो कहा है वह सब *'बहु बिधि आदर देई'* से कह दिया गया। आदर देकर जनाया कि मैं तुम्हारा बहुत उपकार मानती हूँ, बड़ी कृतज्ञ हूँ। पं० तथा रा० प्र० कार यह भाव भी कहते हैं कि उसका अत्यन्त आदर किया जिसमें यह इस मन्त्रको गुप्त रखे, किसी औरसे प्रकट न कर दे क्योंकि चेरी ही तो है। चेरीके आदरका फल उलटा होता है वही फल रानीको मिलेगा। (रा० प्र०)] (ग) *'कोपभवन गवनी'*— यदि इतना आदर न देती तो उसके मनमें सन्देह होता कि इतने उपदेशपर भी कुछ न बोली, न जाने मेरा वचन मानेगी कि नहीं। अतः आदर देकर उसके सामने तुरत कोपभवनमें चली गयी, जिससे उसे विश्वास हो जाय।

बिपति बीजु बरषारितु चेरी। भुइँ भइ कुमति केकई केरी॥ ५॥
पाइ कपट जलु अंकुर जामा। बर दोउ दल दुख फल परिनामा॥ ६॥
कोप समाजु साजि सब सोई। राजु करत निज कुमति बिगोई॥ ७॥
राउर नगर कोलाहलु होई। यह कुचालि कछु जान न कोई॥ ८॥

शब्दार्थ—**भुइँ**=भूमि, पृथ्वी। **अंकुर जामा**=अँकुआ निकला वा फूटा। **बिगोई**=नष्ट हो गयी, ठगी गयी। **राउर**=रनवास, राजमहल, यथा—*'गये सुमंत्र तब राउर माँहीं।'* (३८। ३) यह उदयपुरकी बोली है। **कोलाहलु**= शोर, तुमुलध्वनि, धूमधाम, हर्षका शब्द।

अर्थ—विपत्ति बीज है, दासी वर्षा-ऋतु है, कैकेयीकी दुर्बुद्धि (उस बीजके बोने-जमनेके लिये) भूमि हुई॥ ५॥ उसमें कपटरूपी जलको पाकर अँकुआ फूटा है, दोनों वर उस अङ्कुरके दोनों दल हैं। जो अन्तमें दुःख होनेवाला है वही इसका फल है॥ ६॥ कैकेयी कोपका सब साज सजकर कोपभवनमें लेट गयी। राज्य करते हुए अपनी दुर्बुद्धिसे वह नष्ट हुई॥ ७॥ राजमहल और नगरमें (उत्सवके कारण) धूमधाम मच रही है। इस कुचालको कोई किञ्चित् भी नहीं जानता॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'बिपति बीजु बरषारितु'''''* इति। (क) कुमतिसे विपत्ति होती है, यथा—*'जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना।'* (५। ४०) इसीसे कुमतिको भूमि और विपत्तिको बीज कहा। कैकेयीमें पहले सुमति थी। *'पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी।'* (१४। ८) से *'हरष समय बिसमउ करसि'''''।'* (१५) तक सब सुन्दर बुद्धिके वचन उनके मुखसे निकले। तत्पश्चात् मन्थराके कुसंगसे उसमें 'कुमति' आ गयी। (ख) वर्षा-ऋतुकी वर्षामें सभी बीज जम उठते हैं, अन्य ऋतुओंमें सब बीज नहीं जमते।

नोट—१ यहाँ वृक्षका साङ्गरूपक बाँधा गया है। वृक्षका बीज भूमिमें बोया जाता है। जो बीज जिस ऋतुका होता है उसीमें जमता है, अन्यमें नहीं और वर्षाकालमें भूमिमें पहलेके भी पड़े हुए बीज जल पाकर अङ्कुरित हो जाया करते हैं। बीजमें जल पड़नेसे अङ्कुर फूटता है, फिर अङ्कुर फूटनेपर पहलेपहल

दो पत्ते निकलते हैं। इन्हींको दल कहा है। पौधा बड़ा होनेपर फल लगते हैं। यहाँ कैकेयीकी दुर्बुद्धिरूपी भूमिमें विपत्तिरूपी बीज बोया गया है। कुमतिसे विपत्ति होती ही है, यथा—'*जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना।*' (५। ४०) दासी वर्षा-ऋतु है अर्थात् जैसे वर्षाजल पाकर अङ्कुर जमता है, वैसे ही मन्थरारूपी वर्षा-ऋतुके कपटरूपी जलसे कैकेयीकी दुर्बुद्धिरूपी भूमिद्वारा विपत्तिका बीज पौधारूप हो गया।

यहाँ सब उपमान उपमेय दिखाये गये; पर अङ्कुर उपमानका उपमेय यहाँ नहीं खोला गया। पं० रामकुमारजी कहते हैं कि और कवि कह डालते पर गोस्वामीजी दिव्यदृष्टिवाले हैं, इससे उन्होंने न कहा। बीज पृथ्वीमें वर्षाजल पाकर प्रथम जमता है, फिर उसमें अङ्कुर फूटता है। जबतक अङ्कुर पृथ्वीके बाहर नहीं निकलता है तबतक दिखायी नहीं देता, बाहर निकलनेपर देख पड़ता है। वैसे ही वर माँगनेका मनोरथ अङ्कुर है। यह मनोरथ मन्थराके कपट-वाक्योंसे कैकेयीकी दुर्बुद्धिमें जम गया है पर अभी कैकेयीके अन्तः-करणमें गुप्त है। (अभी उनके मुखसे वचनद्वारा दलरूप होकर बाहर नहीं निकला है।) अतएव कवि भी उसे अभी कैसे कहें? जब कैकेयी वर माँगेंगी तब दोनों वरदानरूपी दलोंका निकलना लिखना उचित होगा। जब बिरवा प्रकट हुआ तब उसे कह सके। अतएव अङ्कुरका उपमेय नहीं खोला गया।

श्रीबैजनाथजीने इस रूपकको और बढ़ाया है। वे लिखते हैं कि कैकेयीका हठ फुनगी है, कामना और क्रोधयुक्त अनेक वचन शाखाएँ हैं, सबका अनादररूप वचन पत्ते हैं, पतिविमुखता फूल हैं और अन्तका सब दुःख परिपक्व फल हैं।

बाबा हरीदासजी—यहाँ 'विपत्ति' और 'दुःख' दोनों एक ही बातें हैं। इससे पुनरुक्ति दोष आता है, दूसरे बीजका रूप भी नहीं खुलता, तीसरे अभी श्रीरामजी घरमें हैं, राजा दशरथ मरे नहीं हैं; तब विपत्ति कैसे कहते बने। अतएव यहाँ 'विपत्ति' का अर्थ यों ठीक हो कि—वि=दो, पति=मर्याद। सो दशरथजीकी एक मर्याद दस हजार वर्षकी आयु है और एक मर्याद नौ हजार वर्षकी तापस अन्धशाप-मिस सोई बीजरूप है।' (श्रीदशरथ महाराजकी आयु तो ६०,००० वर्षकी हो चुकी थी जब पुत्र हुए। बाबा हरीदासके कथनका आशय यह है कि तापसके शापसे उनकी आयु एक हजार वर्ष घट गयी, शाप था कि तुम भी पुत्र-वियोगके शोकमें मरोगे। अतः विपत्ति बीजरूपसे तभीसे पड़ी थी। वही अब देवमाया वा भावीवश कैकेयीकी कुमतिरूपी भूमिमें पड़कर जमा। इत्यादि। बीज और परिपक्व फल एक ही हैं। परिपक्व फल बीजके काममें आता है। इसीसे विपत्तिको बीज और परिपक्व फल दोनों कहा। दुःख और बिपत्ति पर्याय शब्द हैं। विपत्ति सबपर पड़ेगी, पर राजापर सबसे अधिक पड़ी। (प्र० सं०)]

टिप्पणी—२ '*कोप समाजु साजि सब सोई*…' इति। (क) सोई अर्थात् जो मन्थराने बताया था। (यह भाव मानसमें स्पष्ट नहीं निकलता। 'कोपगृह जाहू' से यह अनुमान कर सकते हैं कि उसने यह भी बताया कि क्या कोप-साज सजे। क्या कोपसामग्री सजी, यह कवि स्वयं आगे स्पष्ट कहते हैं। यथा—'*भूमि सयन पट मोट पुराना। दिए डारि तन भूषन नाना॥*' (२५। ६) (वाल्मी० २। ९) में मन्थराने कैकेयीसे कहा है कि तुम कोपभवनमें जाकर मैले वस्त्र पहनकर सो जाओ। उसके अनुसार यह भाव ले सकते हैं। अ० रा० में मानसका-सा उल्लेख है) '*सोई*' श्लेषार्थी शब्द है। दूसरा अर्थ सो गयी, लेट गयी है। ['*सोई*' शब्द वाल्मी० २। १०। १ '*तदा शेते स्म सा भूमौ*' के अनुसार है। यहाँ तात्पर्य लेटनेसे है, यह आगे '*बिहसि उठी मति मंद।*' (२६) से स्पष्ट है। प्र० सं० में '*सोई*' का एक अर्थ यह भी किया था कि 'वही कैकेयी जो पहले श्रीरामप्रेमकी प्रबलतासे कुबरीके वचनोंपर विश्वास नहीं करती थी'।] (ख) '*राजकरत*…' इति। भाव कि सम्पूर्ण राज्य इसीके अधीन था, यथा—'*प्रिया प्रान सुत सरबस मोरे। परिजन प्रजा सकल बस तोरें॥*' (२६। ५)

नोट—२ '*राउर नगर कोलाहलु होई*'—यहाँतक मन्थरा-कैकेयी-संवाद लिखा, अब सब नगरका पूर्वोक्त आनन्द लिखते हैं। राजमहल और नगरके आनन्द कोलाहलका वर्णन पूर्व हो चुका है, उसी आनन्दमें सब डूब रहे हैं।

टिप्पणी—३ '*राउर नगर कोलाहलु होई*…।' इति। (क) राजमहल और नगरमें हर्ष और आनन्दका

शब्द हो रहा है।'*एहि अवसर मंगल परम सुनि रहसेउ रनिवासु। सोभत लखि बिधु बढ़त जनु बारिधि बीचि बिलासु॥*' (७) से '*गावहिं मंगल कोकिल बयनी।*' (८। ७) तक राजमहलका कोलाहल है। और '*रामराज अभिषेक सुनि हिय हरषे नरनारि। लगे सुमंगल सजन सब बिधि अनुकूल बिचारि॥*' (८) यह नगरकोलाहल उपक्रम है। इसका उपसंहार '*बाजहिं बाजन बिबिध बिधाना। पुर प्रमोद नहिं जाइ बखाना॥*' (११। १) से किया गया है। (ख) '*जान न कोई*'—अर्थात् जान पाते तो कोलाहल न होता। विपत्तिका बीज बोया ही न जा सकता। लोग उसका उपाय कर लेते। राजासे कह देते। बस, न राजा कैकेयीके पास जाते, न वर देनेकी बात ही होती। [वसिष्ठादिको भी नहीं मालूम था, नहीं तो उसके रोकका उपाय कर लेते। (प्र० सं०) राजाके पास सुमन्त्रजीको न भेजते, तिलक कर देते]

दो०—प्रमुदित पुर नर नारि सब सजहिं सुमंगलचार।
एक प्रबिसहिं एक निर्गमहिं भीर भूप दरबार॥ २३॥

शब्दार्थ—**सुमंगलचार**—ध्वजा, पताका, कलश, चौकें, नाचरङ्ग, मङ्गल-गान, दधि, दूब इत्यादि सब माङ्गलिक साज। बा० ३४४(४)—३४६ देखिये। **चार**=आचार, रीति, साज। **प्रबिसहिं**=प्रवेश करते हैं, भीतर जाते हैं, प्रविष्ट होते हैं। यह प्रवेश शब्दसे बनाया गया है। '**निर्गमहिं**'—निर्गमन संस्कृत शब्द है, उससे यह अकर्मक क्रिया बनायी गयी है। बाहर निकलते हैं। **दरबार**=राजद्वार जहाँ ड्योढ़ी लगती है। यथा—'*करि मज्जन सरजू जल गये भूप दरबार।*' (२०६) देखिये। **भीर**=भीड़, जमघट।

अर्थ—बड़े ही आनन्दित होकर नगरके सब स्त्री-पुरुष अत्यन्त सुन्दर माङ्गलिक साज सज रहे हैं। कोई तो भीतर जाते हैं और कोई भीतरसे बाहर निकल रहे हैं। राजद्वारपर बड़ी भीड़ है॥ २३॥

टिप्पणी—१ (क)'*राम राज अभिषेक सुनि हिय हरषे नरनारि॥*' दोहा ८ पर पुरवासियोंका प्रसङ्ग छोड़ा था। अब वहींसे पुनः उठाते हैं। '**प्रमुदित**'—अर्थात् श्रीरामजीको देख-देखकर मुदित तो सदा ही रहते थे, यथा—'*सब बिधि सब पुरलोक सुखारी। रामचंद्र मुखचंदु निहारी॥*' (१। ६) अब राज्याभिषेक सुनकर 'प्रमुदित' हैं। (ख)'*एक प्रबिसहिं*……' अर्थात् आने-जानेवालोंका ताँता लगा हुआ है। द्वारपर कैसी भारी भीड़ है यह यहाँ इन शब्दोंसे दिखाते हैं। इतनी भीड़ है कि एक ही मनुष्य प्रवेश कर सकता है और एक ही निकलता है, दो-दो मनुष्योंके निकलनेपर भीतर जानेके लिये अवकाश नहीं मिलता। दो मनुष्य भी एक साथ निकल नहीं सकते। [(ग)'*भीर भूप दरबार*' का भाव यह भी कहा जाता है कि दरबारमें राजाओंकी बड़ी भीड़ है, एक आता है, एक जाता है। एक-एक करके ही वे आते-जाते हैं। (रा० प्र०) यह भाव वाल्मी० २। १। ४६, '**नानानगरवास्तव्यान्पृथग्जानपदानपि। समानिनाय मेदिन्यां प्रधानान्पृथिवीपतिः॥**' (अर्थात् अभिषेकमें सम्मिलित होनेके लिये भिन्न-भिन्न नगरोंके निवासी, भिन्न-भिन्न मण्डलोंके राजाओंको निमन्त्रित किया) के आधारपर कहा गया जान पड़ता है।]

बालसखा सुनि हिय हरषाहीं। मिलि दस पाँच रामु पहिं जाहीं॥ १॥
प्रभु आदरहिं प्रेमु पहिचानी। पूछहिं कुसल खेम मृदु बानी॥ २॥
फिरहिं भवन प्रिय आयसु पाई। करत परसपर राम बड़ाई॥ ३॥

शब्दार्थ—**दस पाँच**—यह मुहावरा है अर्थात् कई मिलकर, अकेले-दुकेले नहीं। **कुसल खेम**=कुशल-क्षेम राजी-खुशी, खैरो आफियत, कुशल-मङ्गल। कुशल और क्षेम दोनोंका एक ही अर्थ है और ये दोनों मिलाकर भी उसी अर्थमें बोले जाते हैं। दीनजी लिखते हैं कि—**कुशल**=चतुराईपूर्वक दुनियाँमें व्यवहार करते हुए धन कमाना। **खेम**=(क्षेम) जो कमाया है उसे भोगना और सुरक्षित रखना। कुशल-क्षेम पूछते हैं अर्थात् कैसे रहे, आनन्दसे जीवन वहन होता है न? लड़केबाले अच्छे हैं आदि पूछते हैं।' **पहिचानि**=जानकर, देखकर, लखकर।

अर्थ—(श्रीरामचन्द्रजीके) बालसखा राज्यतिलकका समाचार सुनकर मनमें प्रसन्न होते हैं और दस-पाँच मिल-जुलकर श्रीरामचन्द्रजीके पास जाते हैं॥ १॥ प्रभु (रामचन्द्रजी) उनका प्रेम पहचानकर उनका आदर-सत्कार करते हैं, कोमल मीठी वाणीसे उनका कुशल-क्षेम पूछते हैं॥ २॥ वे प्रियकी आज्ञा पाकर लौटते हैं। (लौटते हुए मार्गमें वे) आपसमें एक-दूसरेसे श्रीरामजीकी बड़ाई करते हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'बालसखा……'* इति। (क) पुरके लोग राजद्वारपर जाते हैं और बालसखा श्रीरामजीके यहाँ जाते हैं। पुर-नर सुमङ्गलचार सजते हैं, बालसखा सुनकर हर्षित होते हैं, वे मङ्गल नहीं सज सकते। पुर-नर-नारि हर्षित होकर मङ्गल सजते हैं और बालसखा हर्षित होकर श्रीरामजीके पास जाते हैं। यह कृत्य बालसखाओंका वर्णन किया। हर्ष है कि हमारे मित्रको राज्य प्राप्त हो रहा है। [(ख)—*'प्रभु आदरहिं……'*—'प्रभु' का भाव कि समर्थ हैं और अब चक्रवर्ती होने जा रहे हैं। यह प्रभुत्व पा रहे हैं तब भी उनको किञ्चित् भी अभिमान, गर्व वा गुमान नहीं है। (रा० प्र०) अथवा समर्थ हैं, जानते हैं कि अभिषेक तो होगा नहीं पर उनसे यह कहते नहीं, उनका प्रेम पहचानकर जिस प्रेमसे वे आये हैं, उसीके अनुकूल उनका आदर करते हैं, समर्थ हैं, इसीसे उनका प्रेम पहचानते हैं। (पं०)'**आदरहिं**—आगेसे उठकर लेना, आसनपर बिठाना, कुशल-क्षेम मीठे वचनोंसे पूछना इत्यादि आदर है] (ग) *'प्रेम पहिचानी'*—भाव कि श्रीरामजीको केवल प्रेम प्यारा है, इसीसे प्रेम पहचानकर आदर करते हैं, बैठाते हैं। प्रभु मन, कर्म और वचन तीनोंसे आदर-सम्मानमें लगे हैं। मनसे प्रेम पहचानते हैं, बैठाते हैं, आदर करते हैं यह कर्म है और वचनसे कुशल-क्षेम पूछते हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'फिरहिं भवन……'*—अर्थात् बालकोंको विदा होनेकी इच्छा नहीं है, वे लौटना नहीं चाहते। इससे श्रीरामजीके अपनी ओरसे आज्ञा देनेपर लौटना कहा। (इससे सखाओंका प्रेम दिखाया। वे अपनी इच्छासे नहीं चल देते, न जानेकी आज्ञा माँगते हैं। श्रीरामजी अपनी ओरसे जब जानेको बहुत-बहुत कहते हैं तब आज्ञाका पालन करते हैं। इसी तरह जनकपुरके सखाओंके सम्बन्धमें कहा गया है। यथा—*'कहि बातें मृदु मधुर सुहाई। किये बिदा बालक बरिआई॥'* (१। २२५। ८) (ख)*'करत परसपर राम बड़ाई'* —बड़ाई करते हैं कि *'को रघुबीर सरिस संसारा।……'* अर्थात् इनको राज्य मिलनेवाला है फिर भी इनके मनमें अभिमान छू भी नहीं गया, जैसे ये पूर्व थे वैसे ही अब भी हैं। प्रभुता पानेपर शील और स्नेह घट जाता है, अभिमान हो जाता है, यथा—*'नहिं कोउ अस जनमा जग माहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं॥'* (१। ६०। ८) पर श्रीरामजीका शील और स्नेह हमपर वैसा ही है। [उनकी गम्भीरताकी सराहना करते हैं। (पं०)]

को रघुबीर सरिस संसारा। सीलु सनेहु निबाहनिहारा॥ ४॥
जेहि जेहि जोनि करमबस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देउ यह हमहीं॥ ५॥
सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात यह ओर निबाहू॥ ६॥

शब्दार्थ—**सरिस**=सदृश, सरीखा, समान। **जोनि**=योनि, आकर, खानि। चौरासी लक्ष योनियाँ कही जाती हैं। १।८।१ देखिये। **नात**=सम्बन्ध, रिश्ता। **ओर**=ओर-छोर, आदिसे अन्ततक। **हारा**=करनेवाला, वाला। **भ्रमहीं**=भ्रमते फिरें। बार-बार जन्म लेना योनियोंमे भ्रमना कहा जाता है, क्योंकि यह अच्छा नहीं समझा जाता। **ईसु** (ईश) शिवजी, विधाता।

अर्थ—श्रीरघुनाथजीके समान संसारमें शील और स्नेहका निर्वाह करनेवाला कौन है?॥ ४॥ हे ईश! हम अपने कर्मवश जिस-जिस योनिमें जनमें उस-उस योनिमें हमें यही दीजिये कि हम तो सेवक हों और सीतापति श्रीरामचन्द्रजी (हमारे) स्वामी हों। और, यह नाता ओर-छोर निबह जाय॥ ५-६॥

टिप्पणी—१ *'को रघुबीर सरिस……'* इति। [(क) भुशुण्डीजीने भी कहा है—*'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥'* (७।१२४।४) महर्षि अत्रिजीका भी यही सिद्धान्त है, यथा—*'जेहि समान अतिसय नहिं कोई। ताकर सील कस न अस होई॥'* (३। ६। ८) पुनश्च, यथा—'**लोके पुरुषसारज्ञः साधुरेको विनिर्मितः॥**' (वाल्मी० २१। १८) रघुबीर शब्द देकर जनाया कि पञ्चवीरतामें इनके समान कोई नहीं है]। (ख) *'सील सनेह निबाहनिहारा'*—यथा—*'सीलसनेह छाँड़ि नहिं जाई। असमंजस बस भे रघुराई॥'* (८५। ५) *'निबाहनिहारा'*—अर्थात् शील और स्नेहका आद्यन्त निर्वाह प्रायः होता नहीं पर श्रीरामजी आदिसे अन्ततक दोनोंका निर्वाह करते हैं। वीर हैं, इसलिये 'रघुबीर' कहा। [(ग) शील नेत्रका व्यवहार है और स्नेह अन्तःकरणका धर्म है। 'दोनोंको कहकर भीतर-बाहर दोनोंसे निरभिमान होनेकी प्रशंसा करते हैं। प्रभुके स्वभावपर रीझकर भक्तिकी याचना करते हैं। (प्र० सं०)]

टिप्पणी—२—*'जेहि जेहि जोनि'''''* इति। (क) भक्तलोग भक्ति करनेके लिये जन्म चाहते हैं, मुक्ति नहीं चाहते। यथा—*'अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥'* (७। ११९। ७) *'मोको अगम सुगम तुम्हको प्रभु तउ फल चारि न चहिहौं।'* (वि० २३१) [(ख) *'जेहि जेहि जोनि'*—अर्थात् योनिका नियम नहीं। *'तहँ तहँ'*—अर्थात् स्थानका नियम नहीं। भाव कि चाहे किसी भी योनिमें हमारा जन्म हो; पशु-पक्षी, गुल्म, मनुष्य इत्यादि कोई भी शरीर हमें मिले और चाहे कहीं किसी स्थानमें हमारा जन्म हो। जन्म कर्मवश होता है, जैसे कर्म होते हैं वैसी योनि मिलती है, यथा—*'कुटिल कर्म लै जाइ मोहिं जहँ तहँ अपनी बरिआई।'* (वि० १०३) (ग) *'भ्रमहीं'* अर्थात् योनियोंमें भटकते फिरें। यथा—*'आकर चारि लाख चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥ फिरत सदा''''।'* (७।४४)] (घ) *'ईसु देउ यह'*—भगवान् शंकर रामभक्तिके दाता हैं, यथा—*'भगति मोरि तेहि संकर देइहि।'* (६। ३। ३) *'संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि।'* (७। ४५) इसीसे शंकरजीसे माँगते हैं।

टिप्पणी ३—*'सेवक हम स्वामी सियनाहू।'''* इति। (क) स्वामी-सेवकका नाता माँगते हैं, क्योंकि श्रीरामजी सब नातोंसे सेवकका नाता अधिक मानते हैं। *'अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥ सब के प्रिय सेवक यह नीती। मोरें अधिक दास पर प्रीती॥'* (७।१६) *'कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥'* (४।३५। ४) (ख) *'सियनाहू'* का भाव कि जैसे श्रीसीताजीके नाह हैं वैसे ही हमारे अनन्य स्वामी होवें। [अर्थात् जैसे श्रीसीताजी अपने पति श्रीरामजीमें अनन्य हैं वैसे हम सब भी श्रीरामजीके अनन्य भक्त हों। यथा—*'जौं मन बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं॥'* (६। १०८) (श्रीसीताजी) *'मन क्रम बचन राम पद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥'* (३। १०। २) (यह सुतीक्ष्णजीकी अनन्यता है)। (ग) *'होउ नात यह ओर निबाहू'*—यह नाता माँगते हैं; क्योंकि प्रभु एक भक्तिका ही नाता मानते हैं, जैसा उन्होंने शबरीजीसे कहा है—*'मानउँ एक भगति कर नाता'*] (घ)*'ओर निबाहू'* का भाव कि इस नातेका निर्वाह कठिन है। (श्रीभरतजीका वाक्य है कि *'सबते सेवक धरम कठोरा॥'* अत: वे शिवजीसे प्रार्थना करते हैं कि) आप हमारा एक तो यह नाता प्रभुसे करा दीजिये, दूसरे इस नातेको आदिसे अन्ततक निबाह दीजिये। श्रीरघुनाथजीने तो हमारे साथ शील और स्नेह निबाहा, अब आप ऐसी कृपा कीजिये कि हमारा यह नाता (हमारी ओरसे) निबह जाय। किसी जन्ममें यह नाता न टूटे।

नोट—१ ☞ *'जेहि जेहि जोनि''''निबाहू'* इति। मिलान कीजिये, यथा—*'खेलिबेको खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं। एहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं या बिनु परमपदहु दुख दहिहौं॥ इतनी जिय लालसा दासके कहत पानही गहिहौं। दीजे बचन कि हिये आनिये तुलसीको पन निरबहिहौं॥'* (वि० २३१) *'आप माने स्वामी, कै सखा सुभाइ, पति ते सनेह सावधान रहत डरत। साहिब सेवक रीति प्रीति परमिति नीति नेमको निबाह एक टेक न टरत॥'* (वि० २५१) (इस पदसे ज्ञात होता है कि निर्वाह कितना कठिन है! इसीसे हर, हनुमान्, लषन, भरत सदा सावधान रहते हैं।')

नोट—२—पाण्डवगीतामें कुन्तीजी, द्रौपदीजी और प्रह्लादजीने यही अभिलाषा प्रकट की है। यथा—'**स्वकर्मफलनिर्दिष्टां यां यां योनिं व्रजाम्यहम्। तस्यां तस्यां हृषीकेश त्वयि भक्तिर्दृढाऽस्तु मे॥**' (कुन्त्युवाच) (१०) '**कीटेषु पक्षिषु मृगेषु सरीसृपेषु रक्षः पिशाचमनुजेष्वपि यत्र तत्र। जातस्य मे भवतु केशव त्वत्प्रसादात्त्वय्येव भक्तिरचलाऽव्यभिचारिणी च॥**' (द्रौपद्युवाच) (१२) **नाथ योनिसहस्त्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्। तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युताऽस्तु सदा त्वयि॥**' (प्रह्लाद उवाच) (४१) अर्थात् हे हृषीकेश! मैं अपने कर्मोंके फलानुसार जिस-जिस योनिमें जाऊँ उस-उस योनिमें मेरे हृदयमें आपकी दृढ़ भक्ति बनी रहे। (१०) हे केशव! कीट, पक्षी, मृग, सर्प, राक्षस, पिशाच तथा मनुष्य-योनिमें अथवा जहाँ भी मैं जन्म लूँ, आपके प्रसादसे आपमें मेरी निष्कपट और अचल भक्ति बनी रहे। (१२) हे नाथ! हे अच्युत! मैं जिन-जिन हजारों योनियोंमें जाऊँ, उन-उन योनियोंमें आपमें मेरी अचल भक्ति रहे(४१)

नोट—३ बालसखाओंकी प्रार्थनासे स्पष्ट है कि सख्य-भावमें भी सेवक-स्वामीका नाता भी अवश्य कायम रहता है।

अस अभिलाषु नगर सब काहू। कैकयसुता हृदय अति दाहू॥७॥
को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मतें* चतुराई॥८॥

शब्दार्थ—**मतें**=मतमें आने वा पड़नेसे।

अर्थ—नगरमें सब किसीके हृदयमें ऐसी अभिलाषा है। (परंतु) कैकेयीके हृदयमें अत्यन्त जलन हो रही है॥७॥ कुसंगतिमें पड़कर कौन नष्ट नहीं होता? नीचकी सलाहमें चलनेसे चतुरता नहीं रह जाती॥८॥

टिप्पणी—१ *'अस अभिलाषु……'* इति। (क) भाव कि यदि ऐसा न कहते तो समझा जाता कि नगरमें बालकोंहीकी ऐसी अभिलाषा है, और किसीकी नहीं। ('अस अभिलाषा' अर्थात् जहाँ-कहीं जिस योनिमें हमारा जन्म हो वहाँ हम सेवक हों और सीतापति श्रीरामजी हमारे स्वामी हों, सेवक-स्वामीका नाता सदा बना रहे और अन्ततक इसका निर्वाह हो—यही सब नगर-निवासियोंकी लालसा है। कैकेयी इन लोगोंमें नहीं है। वह इनसे पृथक् है, यह सूचित करनेके लिये कविने उसे नगर-निवासियोंसे अलग कर पृथक् चरणमें कहा। इतना ही नहीं किंतु उसका नाम भी अवधसम्बन्धी न देकर केकयसम्बन्धी दिया। (ख)—***'कैकय-सुता हृदय अति दाहू'***—भाव कि जैसे राम-राज्य सुनकर नगरके सब लोग 'प्रमुदित' प्रहर्षपूर्वक मुदित हैं वैसे ही कैकेयीके हृदयमें अतिदाह है। 'अति' में ***'प्रमुदित पुर नर नारि सब'*** के '**प्र**' का भाव है। (कैकेयीकी बुद्धि अवधवासियोंसे भिन्न क्यों हुई? क्योंकि वह कैकय-सुता है, मातृकुलका प्रभाव उसपर पड़ा है।)

टिप्पणी—२ ***'को न कुसंगति……चतुराई'***—कौन नहीं नष्ट होता अर्थात् सभी नष्ट होते हैं। (इसपर कोई-कोई कह सकते हैं कि चतुर लोग नष्ट नहीं होते, इसीके निराकरणमें कहते हैं कि ***'रहइ न नीच मतें चतुराई'*** अर्थात्) नीचके संगसे चतुरता नष्ट हो जाती है। कैकेयीने मन्थराका सम्मत लिया, इसीसे चतुरता नष्ट हो गयी।

नोट—१ मन्थरा-कैकेयी-संवादका सारांश गोस्वामीपादने यहाँ स्वयं ही निकालकर रख दिया है। ***'को न कुसंगति पाइ नसाई।……'*** अर्थात् बुरेकी संगतिमें रहनेवालेका पतन अवश्य होता है, उससे सुमतिका भी नाश हो जाता है। अतः बुरी संगत छोड़ सत्संगमें रहो; क्योंकि ***'सतसंगति मुदमंगल मूला।'*** सत्संगति, कुसंगतिकी व्याख्या बालकाण्डके आदिमें स्वयं कविने खूब की है, उसे भी देखिये। और भी कहा है—***'बिगरी जन्म अनेक की सुधरै अबहीं आजु। होहु रामको राम भजु तुलसी तजि कुसमाजु॥'*** पुनः यथा—***'संग ते जती कुमंत्र तें राजा', 'ज्ञान घटै जड़ मूढ़ की संगति। प्रीति घटै जो कठोर ह्वै बोलै, रीति घटै मुँह नीचके लाए॥'***

नोट २—मिलान कीजिये, अ० रा० २। २ के '**धीरोऽत्यन्तदयान्वितोऽपि सुगुणाचारान्वितो वाथवा नीतिज्ञो विधिवाददेशिकपरो विद्याविवेकोऽथवा। दुष्टानामतिपापभावितधियां सङ्गं सदा चेद्व्रजेत्तद्बुद्ध्या परिभावितो व्रजति तत् साम्यं क्रमेण स्फुटम्॥**' **अतः सङ्गः परित्याज्यो दुष्टानां सर्वदैव हि। दुःसङ्गी च्यवते स्वार्थाद्यथेयं राजकन्यका॥**' (८२-८३) इन श्लोकोंसे। अर्थात् कोई पुरुष अत्यन्त धीर, दयालु, सुन्दर सद्गुणोंसे युक्त, सदाचारी, नीतिज्ञ, कर्तव्यनिष्ठ और गुरुभक्ति, अथवा विद्या-विवेक-सम्पन्न भी क्यों न हो, पर यदि वह अत्यन्त पापबुद्धि दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग करेगा तो अवश्य ही क्रमशः उन्हींकी बुद्धिसे प्रभावित होकर उन्हींके समान हो जायगा। इसलिये सदा ही दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग छोड़ना चाहिये, क्योंकि दुःसंगसे पुरुष इस राजकन्याके समान ही पुरुषार्थच्युत हो जाता है।

उपर्युक्त दोनों श्लोकोंका सब भाव इन दो चरणोंमें कह दिया गया है। जैसे राज्याभिषेकका प्रसङ्ग वहाँ इन श्लोकोंपर समाप्त किया गया है, वैसे ही यह प्रसङ्ग मानसमें इन दोनों चरणोंपर समाप्त किया गया है। वस्तुतः ***'पुनि नृप बचन'*** प्रसङ्ग आगे दोहेसे प्रारम्भ होता है। ***'बिघन मनावहिं देव कुचाली।'*** (११। ६) से ***'को न कुसंगति……'*** तक आगेके प्रसङ्गकी भूमिकामात्र है।

---

* 'गरुआई' पाठ भागवतदासजीकी प्रतिका है।

नोट—३'*को न कुसंगति पाइ नसाई*' उपमेय वाक्य है और'*रहइ न*····' उपमान वाक्य है। बिना वाचकके बिम्बप्रतिबिम्ब भाव झलकना 'दृष्टान्त अलङ्कार' है।

बाबू शिवनन्दनसहाय (आरानिवासी)—कैकेयीकी कथा इस कथनको भलीभाँति सिद्धकर हमलोगोंको चेतावनी दे रही है कि कुसंगति करने तथा नीचोंकी बातोंपर कान करनेका महाक्लेशकारक परिणाम होता है। उससे कुसंगति करनेवाला ही कष्ट नहीं पाता वरन् उससे उसके सगे-सम्बन्धी सकल परिवार दुःख भोगते हैं। कुसंगति अच्छे-अच्छे बुद्धिमानोंकी मति भी भ्रष्ट कर देती है। अतएव कविके इस पात्रद्वारा शिक्षापर ध्यान रखकर सबको कुसंगतिसे बचना ही चाहिये। देखिये कैकेयीका हृदय कठोर न था। यह बुद्धिमति भी थी और भरतसे अधिक रामचन्द्रको प्यार भी करती थी·····परंतु दुष्टा दासीकी बातोंपर विश्वास करने और कुसंगतिमें पड़नेसे वे ऐसी वज्रहृदया हो गयीं, अपने कर्तव्यको ऐसी भूल गयीं और ऐसी बुद्धिहीना हो गयीं कि—'*परौं कूप तव बचन पर सकउँ पूत पति त्यागि।*' ऐसी प्रतिज्ञा करनेमें भी उन्हें हिचक नहीं हुई। पतिको दुःखमें कातर देखकर दया-प्रेमके बदले—जलेपर नमक छींटती ही गयीं और अपने आचरण और वाक्योंसे उन्होंने पतिको ऐसा अधीर कर दिया कि उनके समान गम्भीर शील-स्नेह-पूर्ण व्यक्तिको भी '*फिर पछितैहेसि अन्त अभागी*' कहना ही पड़ा। सखी-सहेलियोंने भी, सिख न माननेके कारण, इन्हें दुर्वचन कह ही डाला, पतिसे चिरविछोह हुआ ही, पुत्रने भी····'*हंस बंस दसरथ जनक, रामलखनसे भाइ। जननी तू जननी भई*'—ऐसा वाक्य कह सुनाया। इन्होंने आप वैधव्यका दुःख भोगा और स्वपरिवारवर्ग तथा पुरजन-परिजनोंको भी शोकसागरमें डुबाया। इन्हें तो दुःख होना ही चाहता था; क्योंकि वे एक रीतिसे पति-प्राण-घातिनी हुईं; परंतु इनके संसर्ग-दोषसे औरोंको भी दुःख झेलना पड़ा। आशा करते हैं कि स्त्री-पुरुष सभी इस विशेष पात्रके आचरणसे शिक्षा ग्रहण करेंगे।

दो०—साँझ समय सानंद नृपु गयउ कैकई गेह।
गवनु निठुरता निकट किय जनु धरि देह सनेह॥ २४॥

शब्दार्थ—**साँझ**=(सं० संध्या) शाम, सायंकाल। **निठुरता**=(निष्ठुरता), हृदयकी कठोरता। **सानन्द**=आनन्दसहित, आनन्दमें भरे। **गेह** (सं० गृह)=घर, महल।

अर्थ—संध्या-समय राजा दशरथ आनन्दमें भरे हुए कैकेयीके महलमें गये। मानो साक्षात् स्नेह ही शरीर धरकर निष्ठुरताके पास गया॥ २४॥

टिप्पणी—१ '*साँझ समय*····' इति। (क) संध्या-समय जानेका भाव कि रानी कैकेयी राजाको अत्यन्त प्यारी है; इसीसे वे इनके महलमें बहुत रहते हैं। संध्यावन्दन, व्यालू (रात्रिका भोजन) इत्यादि यहीं करते हैं। अतः संध्या-समय वहाँ गये। (ख) '*सानंद नृपु*'— क्योंकि आज रामराज्याभिषेकके आनन्दसे परिपूर्ण हैं।

नोट—१'*साँझ समय सानंद*····' इति। (क) वाल्मीकिजी लिखते हैं कि बाहरका कार्य समाप्त करके अर्थात् लोगोंको राज्याभिषेककी सामग्री एकत्र करनेकी आज्ञा देकर राजा रनवासको यह समाचार सुनानेके लिये रनवासमें गये। रानी कैकेयी राजाको सबसे अधिक प्रिय थीं, अतः वे सर्वप्रथम उन्हींको यह प्रिय संवाद सुनानेके लिये उन्हींके महलमें गये। यथा—'**अद्य रामाभिषेको वै प्रसिद्ध इति जज्ञिवान्।**' (२। १०। १०) '**प्रियार्हां प्रियमाख्यातुं विवेशान्तःपुरं वशी। स कैकेय्या गृहं श्रेष्ठं प्रविवेश महायशाः॥**' (११) '**स वृद्धस्तरुणीं भार्यां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम्॥**' (२३) कैकेयीजी प्राणोंसे भी अधिक प्रिय थीं, इससे प्रथम वहीं गये। '*साँझ समय*' से जनाया कि आज्ञा देते-दिलाते संध्या हो गयी। कारण कि आज ही विचार उठा, आज ही गुरुके यहाँ गये, आज ही सभाका सम्मत लिया और तब राज्याभिषेकका साज सजने-सजानेकी आज्ञा हुई, इत्यादि। (ख)'**सानंद नृपु**', यथा—'**सानन्दो गृहमाविशत्।**' (अ० रा० २। ३। १) (ग) पं० रामकुमारजीका भाव टि० १ में है। अन्य लोगोंके भाव—दिनके व्यवहारोंसे जो श्रम होता है उसके मिटानेके लिये रात्रि स्वाभाविक ही आनन्दरूप है। अथवा, रसिकोंको रात्रिमें चन्द्रमुखियोंका संयोग अति आनन्ददायक है। अथवा,

अपनेको रामतिलकका हर्ष है और कैकेयी परम प्रिय है, अतएव उसे सुनानेके लिये प्रसन्न होकर गये। (पं०) (घ)—पंजाबीजी यह प्रश्न उठाकर कि 'आज रात्रिमें राजा कैकेयीके ही महलमें क्यों गये?' उसका उत्तर यह देते हैं कि—(१) मुख्य बात तो यह है कि भावी जैसी होती है उसीके अनुसार बुद्धि भी हो जाती है। यथा—*'तुलसी जसि भवितब्यता तैसी मिलै सहाइ। आपु न आवइ ताहि पहिं ताहि तहाँ लै जाइ॥'* (१। १५९) अथवा, (२) राजा नीति विचारकर गये कि कौसल्याजीके पुत्रको तो राज्य ही मिल रहा है और सुमित्रा सौम्य हैं, उनको दोनों ओर आनन्द है। रहीं कैकेयीजी; इनका स्वभाव अनखका है। ये मानवती हैं, (यथा—*'तुम्हहि कोहाब परम प्रिय अहई'*) अपनेको कौसल्या-समान समझती हैं, मेरा प्रेम भी इनपर विशेष है। उनका पुत्र भी यहाँ नहीं है, कदाचित् उनके मनमें दुःख हो जाय, अतः उन्हींके यहाँ प्रथम जाना उचित है, यह सोचकर वहीं गये। ☞ मेरी समझमें राजा कैकेयीके महलमें इसलिये प्रथम गये कि उसपर राजाका सबसे अधिक प्रेम है, जैसा पूर्व बारम्बार लिखा जा चुका है। वे जानते हैं कि वह इस प्रिय समाचारको सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होगी; क्योंकि वह स्वयं चाहती थी कि रामका राज्याभिषेक कर दिया जाय, राजासे वह कई बार इस बातको कह चुकी थी, जैसा कि राजाके *'भामिनि भयउ तोर मन भावा। घर घर नगर अनंद बधावा॥ रामहि देउँ कालि जुबराजू।'* (२७। २-३) इन वचनोंसे स्पष्ट है। अतः वे प्रथम कैकेयीके महलमें गये। यहाँ समाचार देकर कौसल्या आदिके यहाँ जाते, पर यहाँ तो कुछ और ही दुर्घटना हो गयी।

वि० त्रि०—भाव यह कि वह अवसर तो ऐसा था कि महाराजको कौसल्याके घर जाना चाहिये था; क्योंकि उन्हींके पुत्रका अभिषेक होनेवाला था, आनन्द-विशेषकी सम्भावना तो कौसल्यामें ही थी, परंतु महाराज जानते थे कि इस अभिषेकसे अधिक आनन्द कैकेयीको होगा; क्योंकि उसे भरतसे भी अधिक राम प्यारे हैं, कौसल्याने कभी रामजीके अभिषेककी चरचा भी नहीं की; और कैकेयी कई बार रामाभिषेकके लिये अपनी इच्छा प्रकाशित कर चुकी है, उसके लिये लालायित है, अतः मेरे मुखसे समाचार पाकर वह अत्यन्त आनन्दित होगी और उसे आनन्दित देखकर मेरा आनन्द और भी बढ़ेगा। ऐसा विचारकर महाराज सानन्द उसीके घर गये।

महारानी कैकेयीके रामाभिषेकके लिये इच्छा प्रकट करनेसे ही उनके विवाहके अवसरपर जो समय (इकरार) स्थापित हुआ था, वह टूट गया था। इसलिये दूसरे दो वरदानका सहारा पकड़ना पड़ा। महाराजको स्वप्नमें भी वह खयाल न था कि जिसने रामजीके लिये इतने दृढ़ समय (इकरार) को भङ्ग कर दिया वह उनके अभिषेकसे अप्रसन्न होगी। अतः कहते हैं *'गवन निठुरता निकट किय जनु धरि देह सनेह।'*

टिप्पणी—२ *'गवन निठुरता'''* इति। (क) राजा कैकेयीपर अत्यन्त स्नेह किये हुए हैं, इसीसे राजाको स्नेहकी मूर्ति कहा। कैकेयी राजापर अत्यन्त निष्ठुर है इसीसे उसे निष्ठुरताकी मूर्ति कहा। (ख) निष्ठुरताके पास स्नेहके गमनका भाव यह है कि जैसे निष्ठुरताके निकट जानेसे स्नेहका नाश होता है, क्योंकि निष्ठुरता तलवारकी धारके समान है, यथा—*'मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरी सान बनाई॥'* (३०। २) वैसे ही कैकेयीके निकट इस समय जानेसे राजाका नाश है।

नोट—२ इस समय राजा आनन्दमें मग्न कैकेयीके महलमें उससे मिलने जा रहे हैं; यही उत्प्रेक्षाका विषय है। राजा मानो मूर्तिमान् स्नेह हैं और वह निष्ठुरताकी मूर्ति बनी बैठी या लेटी है। निष्ठुरता और स्नेह मूर्तिमान् नहीं होते; अतः यहाँ 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ। भय बस अगहुड़ परइ न पाऊ॥ १॥
सुरपति बसइ बाँह बल जाकें। नरपति सकल रहहिं रुख ताकें॥ २॥
सो सुनि तियरिस गयउ सुखाई। देखहु काम प्रताप बड़ाई॥ ३॥
सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमनसर मारे॥ ४॥

शब्दार्थ—**सकुचेउ**=सहम गये, सूख गये, सकुच गये। **अगहुड़**=आगे। **नरपति**=नृपति, राजा। **सूल**=त्रिशूल। **कुलिस**=(कुलिश) वज्र; अस्त्रविशेष—(दीनजी)। **असि**=तलवार। **अँगवनिहारे**=(अङ्गग्रहण हारे) अपने शरीर-पर लेनेवाले, सहनेवाले। 'अँगवना' सकर्मक क्रिया है, केवल पद्यमें इसका प्रयोग पाया जाता है। इसका अर्थ है—अङ्गीकार करना, सिरपर लेना, उठाना, सहना; यथा—'***धरती भार न अँगवै पाँव धरत उठ हाल। कूर्म टूट भुइँ फाटी तिन हस्तिनकी चाल***' (जायसी) **बसइ**=बसता है, सुखपूर्वक निर्भय घरमें रहता है। **बाँहबल**=बाहुबल, भुजाओंके आश्रित या सहारे; पराक्रमके भरोसे। '***रुख ताके***' (२।२।३) देखिये।

अर्थ—'कोपभवनमें' सुनकर राजा सहम गये। डरके मारे आगे पैर ही नहीं पड़ता॥ १॥ जिनके भुजबलके भरोसे इन्द्र (राक्षसोंसे निर्भय सुखपूर्वक) बसते हैं तथा सभी (मनुष्योंके) राजा जिनका रुख देखते रहते हैं॥ २॥ वे ही (राजा दशरथ) स्त्रीका रिसाना (कोप, क्रोध) सुनकर सूख गये। कामदेवका प्रताप और बड़ाई तो देखिये!॥ ३॥ जो त्रिशूल, वज्र और तलवार आदिका घात अपने ऊपर लेने और सहनेवाले हैं वे कामदेवके पुष्पबाणसे मारे गये॥ ४॥

टिप्पणी—१ '***कोपभवन सुनि***''' इति (क) '***सुनि***' से सूचित होता है कि महाराजने किसी दासीसे पूछा कि तुम्हारी स्वामिनी कहाँ हैं। (तब दासीने कहा कि कोपभवनमें हैं, मैं कारण नहीं जानती। यथा—'**ता ऊचुः क्रोधभवनं प्रविष्टा नैव विद्महे।**' (अ० रा० २। ३। ५) '**देव देवी भृशं क्रुद्धा क्रोधागारमभिद्रुता।**' (वाल्मी० २। १०। २१) स्मरण रहे कि मन्थरा कैकेयीको पट्टी पढ़ाके यहाँसे चली गयी थी, यथा—'**इत्युक्त्वा प्रययौ कुब्जा गृहं**……।'(अ० रा० २। २। ८१) अन्य दासियोंसे राजाने पूछा जो वहाँ थीं)। (ख) '***भय बस अगहुड़***……'—भयवश आगे पैर नहीं पड़ता, इस कथनसे सूचित होता है कि राजा कैकेयीके वशमें रहे हैं। यथा—'***प्रिया प्रान सुत सरबस मोरें। परिजन प्रजा सकल बस तोरें॥***' (२६। ५) आगे पैर नहीं पड़तासे जनाया कि सुनकर खड़े हो गये थे फिर आगे (कोपभवनमें) चलनेको कदम उठाया, पर पैर आगे नहीं पड़ता। 'भय बस', यथा—'**इत्युक्तो भयसन्त्रस्तो राजा।**' (अ० रा० २। ३। ६)

नोट—१ क्या भय हुआ? बैजनाथजी लिखते हैं कि केकयराजाको जो एकरारपत्र विवाह-समय इन्होंने लिखा था उसका स्मरण हो आया उसीका भय है। इस ग्रन्थमें राजा और कैकेयीके वचनोंसे इसका लेश भी नहीं पाया जाता; मन्थरा भी इसको स्पष्ट नहीं कहती, उसने धरोहर वरदानहीका सहारा लिया न कि किसी प्रतिज्ञापत्रका। कवि स्वयं उसका कारण दे रहे हैं—'***ते रतिनाथ***……।' वाल्मीकिजी लिखते हैं कि जितेन्द्रिय यशस्वी राजा यह प्रिय संवाद रानीको सुनानेके लिये प्रथम कैकेयीके महलमें गये। राजाके इस समयको कैकेयीजीने आजतक कभी नहीं लाँघा था। अविवेकिनी कैकेयी भरतको राज्य दिलाना चाहती है यह बात उनको मालूम न थी। कैकेयीको न देखकर दुःखित हुए ही थे, अब क्रोधकी बात सुनकर वे अधिक दुःखी हुए और उसे देखकर वे घबड़ा गये; क्योंकि वह राजाको प्राणसे भी प्यारी थी। (नोट—हमारी समझमें यही कारण अधिक उत्तम जँचता है।)

वि० त्रि०—कोपभवन तो इसीलिये बना ही हुआ है कि यदि रानी कुपित हों तो उस भवनमें चली जायँ। कुपितावस्थामें न जाने कैसी आज्ञा उनके मुखसे निकल पड़े, पर राम-राज्याभिषेकके समय महारानीके कोपभवनमें जानेका अर्थ दुनिया तो यही लगावेगी कि रामराज्याभिषेक सुनकर रानी कैकेयी कुपित हुई हैं, यह समझकर राजाको संकोच हुआ। आगे चलकर कहेंगे भी '***घरी कुघरी समुझि जिय देखू। बेगि प्रिया परिहरहि कुबेषू॥***', और प्रणयकोपका बड़ा भारी भय भी हुआ; क्योंकि '**बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत्। दारुभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रिर्निष्क्रियो भवति पङ्कजकोषे॥**' बन्धन तो बहुत-से हैं, परंतु प्रेमकी रस्सीका बन्धन ही दूसरा है। भौंरा लकड़ीके बेधनेमें बड़ा कुशल होता है, पर कमलके कोषमें बँध जानेपर उसका किया कुछ भी नहीं होता। अतः महाराज प्रणयकोपके भयसे अत्यन्त भीत भी हुए।

टिप्पणी—२ '***सुरपति बसइ बाँह बल***''' इति। (क) जिसके भुजबलके भरोसे इन्द्र बसते हैं अर्थात्

जो इन्द्रकी सहायता किया करते हैं। इससे जनाया कि स्वर्गके राजासे अधिक बलवान् हैं। राक्षसोंको मारनेसे सुरपतिकी सहायता हुई। अतएव *'सुरपति बसइ·····'* से यह भी जनाया कि श्रीदशरथमहाराज पातालवासी राजाओंसे भी बली हैं। (ख) *'नरपति सकल रहहिं····'* पृथ्वीके जितने नरराज हैं वे जैसा रुख देखते हैं वैसा काम करते हैं। इससे मर्त्यलोकके राजाओंसे अधिक बलवान् जनाया। (ग) *'सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई'*—राजा प्रथम आनन्दमें मग्न थे, यथा—*'साँझ समय सानंद नृपु गयउ····· ॥'*(२४) वे ही स्त्रीका कोप सुनकर सूख गये। राजाके द्वारा कामका प्रताप प्रत्यक्ष दिखाया, इसीसे कहते हैं कि *'देखहु'*। (यहाँ राजापर प्रत्यक्ष बीत रही है, अतः पूज्य कवि *'सुनहु'* या *'समझहु'* आदि न कहकर *'देखहु'* कहते हैं। अर्थात् इस समय यह बात प्रत्यक्ष नेत्रोंका विषय हो रही है। यह कामके प्रतापकी बड़ाई है। कामी पुरुष इसी तरह प्राणप्रियाके कोपसे सहम जाते हैं। अतः कामके फन्देसे बचे रहो, यह उपदेश है।) जो पूर्व कहा था कि *'कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ,'* उसका अर्थ यहाँ स्पष्ट कर दिया कि *'सो सुनि तियरिस गयउ सुखाई।'* सकुचेउ=सूख गये। 'कोपभवन' में हैं अर्थात् क्रुद्ध हैं।

टिप्पणी—३ *'सूल कुलिस असि अँगवनिहारे।·····'* इति। (क) त्रिशूल महादेवजीका, कुलिश (वज्र) इन्द्रका और खड्ग वा तलवार दुर्गा और कालीकी (अथवा शूल, वज्र, खड्ग आदि अस्त्र-शस्त्र भगवान् विष्णुके जो ये सब अस्त्र-शस्त्र धारण करते हैं। प्र० सं०) इन सबोंको भी सह लेनेवाले जो वीर हैं उनको भी कामदेवने पुष्पोंके बाणोंसे मार-मारकर घायल कर डाला; अर्थात् कामी बना दिया। भाव कि प्रथम राजाके ऊपर कामका प्रताप वर्णन किया कि *'सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई',* इससे पाया जाता है कि राजा कामी हैं, स्त्रीके वशमें हैं; अतः कहते हैं कि राजा दशरथ ही ऐसे नहीं हैं। त्रिलोकीमें जितने वीर हैं वे सब कामके वश हैं; इसमें राजाकी कुछ न्यूनता नहीं है। [शूल, वज्र, खड्ग—ये सब आयुध अमोघ हैं तथापि जलन्धर, मेघनाद और रावण आदिके अङ्गोंने इनका भी निरादर किया था। ऐसे अत्यन्त कठोर अङ्गोंवाले भी पुष्पबाणोंसे घायल किये गये, वे भी न बचे तब भला राजा दशरथका क्या कहना? (प्र०सं०)] (ख)—राजा क्षत्रिय हैं, अतएव यहाँ वीरोंके ऊपर कामका प्रताप कहा। *'सूल कुलिस असि अँगवनिहारे'* वीर हैं। और, ब्राह्मण इन्द्रियजित् होते हैं अतएव उनके प्रसङ्गमें ब्रह्मचर्यके ऊपर कामका प्रताप कहा था। यथा—*'ब्रह्मचरज ब्रत रत मति धीरा। तुम्हहि कि करै मनोभव पीरा॥'* (१। १२९। २) (नारदमोह प्र०) (ग) शूल, कुलिश और असिके सम्बन्धसे *'सुमन सर'* कहा। भाव कि जिन्होंने बड़े-बड़े कठिन अस्त्र-शस्त्र सहे उन्हें अत्यन्त कोमल फूलके बाणसे मारा। अर्थात् वे कामासक्त हो गये।

नोट—२ *'सूल कुलिस·····मारे'* इति। (क) बैजनाथजी आदि कई टीकाकारोंने इसे दशरथजीमें लगाया है। वे इस प्रकार अर्थ करते हैं कि 'शिवका त्रिशूल, इन्द्रका वज्र तथा अन्य राजाओं, दैत्य-दानवादिकी तलवारकी चोट सह लेनेवाले राजा दशरथको कामदेवने फूलके बाणोंसे ऐसा मार गिराया कि वे मूर्छित हो गये; यह उनकी दशा प्रत्यक्ष देखनेमें आ रही है।' उनका मत है कि यह चोट पूर्वकी है। जब उन्होंने प्रथम-प्रथम नारदजीसे कैकेयीके रूपलावण्यका समाचार पाया था, उस समय वे कामबाणसे मूर्छित हो गये थे। देवकाली देवीसे प्रार्थना करनेपर वह योगिनी बनकर कैकेयीके पास गयी और दूतीका काम किया। तत्पश्चात् प्रतिज्ञापत्र लिखनेपर विवाह हुआ। यह कथा सत्योपाख्यानमें है। [राजा दशरथने शिवजीका त्रिशूल, इन्द्रका वज्र सहा, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। जलंधर आदिने शङ्करका त्रिशूल सह लिया, मेघनाद, वृत्रासुर आदिने इन्द्रका वज्र सह लिया और रावणने कुबेर आदि सभीके अस्त्र-शस्त्र सह लिये, यहाँतक कि विष्णुका चक्र भी उसका कुछ न कर सका था। दशरथजीमें लगानेसे शूल, कुलिश आदिका अर्थ यह लेना होगा कि शिवजीके त्रिशूल और इन्द्रके वज्रके समान अमोघ आयुधोंको सह लेते थे। देवासुर-संग्राममें दैत्योंके ऐसे आयुध सहे ही होंगे।] (ख) *'अँगवनिहारे'* का अर्थ उठानेवाले भी हैं। (श० सा०) इसके अनुसार एक अर्थ यह भी किया जाता है कि त्रिशूल, वज्र और तलवार धारण करनेवाले शिव, इन्द्र और विष्णु भी पुष्पबाणोंसे घायल हुए हैं, तब राजा दशरथ घायल हुए तो इसमें आश्चर्य क्या?

यथा—'**शम्भुस्वयम्भुहरयो हरिणीक्षणानां येनाक्रियन्त सततं गृहकर्मदासाः। वाचामगोचरचरित्रविचित्रताय तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय॥**' (भर्तृहरिशृङ्गारशतक १) (ग) कामदेवके बाण फूलोंके हैं। (१। ८३। ८, १। ८७ (१-२)) देखिये। फूलके बाणोंसे योद्धाका आहत होना अपूर्ण कार्य होनेमें 'दूसरी विभावना' है। पुनः ये दोनों असम वाक्य हैं, इनमें भिन्नताभाव रहते हुए भी समतासूचक आरोप 'प्रथम निदर्शना' है। '*सुरपति बसइ ····ताके*' इस विशेष बातका समर्थन '*सो सुनि ····देखहु काम प्रताप बड़ाई*' इस सामान्य बातसे करके भी संतुष्ट न होकर फिर उसका समर्थन '*सूल कुलिस ···मारे*' इस विशेष सिद्धान्तसे करनेसे यहाँ 'विकस्वर अलङ्कार' है। (वीरकवि)

नोट—३ 'इस वर्णनमें दशरथजीको कैसी मर्यादा रखते हुए स्त्री-लम्पट दर्शाया यह देखने योग्य है। (मानस-हंस)

सभय नरेसु प्रिया पहिं गयऊ। देखि दसा दुखु दारुन भयऊ॥५॥
भूमिसयन पटु मोट* पुराना। दिये डारि तन भूषन नाना॥६॥
कुमतिहि कसि कुबेषता फाबी। अन-अहिवात सूच जनु भावी॥७॥
जाइ निकट नृपु कह मृदु बानी। प्रान प्रिया केहि हेतु रिसानी॥८॥

शब्दार्थ—**प्रिया**=प्यारी स्त्री। **दारुन** (दारुण)=कठिन, भारी। **पटु**=वस्त्र। **कसि**=कैसी। **कुबेषता**=बुरा वेष। **फाबी**= फब रही है, अच्छी लगती है, उचित जान पड़ती है, सोह रही है। **अन-अहिवात**=असौभाग्य, विधवापन। **सूच**=जना रही है, सूचना दे रही है। **हेतु**=कारण, लिये।

अर्थ—डरते-डरते राजा अपनी प्रियाके पास गये। उनकी दशा देखकर भारी दुःख हुआ॥५॥ (क्या देखते हैं कि) भूमिपर पड़ी हुई हैं। मोटा पुराना वस्त्र पहिने हैं। शरीरके अनेक प्रकारके गहने उतारकर डाल दिये हैं॥६॥ दुर्बुद्धि कैकेयीको यह कुवेशता कैसी फब रही है, मानो भावी विधवापनकी सूचना दे रही है॥७॥ राजा पास जाकर कोमल मीठी वाणीसे बोले—हे प्राणप्रिये! किस लिये रिसाई (कुपित) हो?॥८॥

टिप्पणी—१ '*सभय नरेसु ·····*' इति। (क) '*कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ। भय बस अगहुड़ परइ न पाऊ॥*' (२५। १) में राजाका भय कहकर प्रसङ्ग छोड़ा था। बीचमें कामके प्रतापकी बड़ाई करने लगे थे। '*सभय नरेसु*' शब्दोंसे वहींसे प्रसङ्ग मिलाकर पुनः वहींसे कहते हैं। (वहाँ चलना कहा था, यहाँ '*प्रिय पहिं गयऊ*' से पहुँचना कहा।) (ख) '*देखि दसा*'— क्या दशा देखी यह आगे कवि स्वयं कहते हैं। '*दुखु दारुन भयऊ*'—भाव कि कोपभवनमें जाना सुनकर दुःख हुआ ही था, अब दशा देखकर दारुण दुःख हुआ।

टिप्पणी—२ '*भूमिसयन पटु मोट पुराना।*' इति। (क) भूमिशयन अर्थात् जमीनपर बिना किसी बिछौनेके पड़ी हैं। '*मोट पुराना*' अर्थात् मोटे मैले वस्त्र पहने हैं। यथा—'**शेषे कल्याणि पांसुषु। भूमौ शेषे किमर्थं**'।' (वाल्मी० २। १०। २९) '**मलिनाम्बरा**।' (२। १०। ८) (ख) '*दिये डारि····*'—अर्थात् उतारकर एक जगह नहीं रखे हैं। किंतु छितरा दिये हैं, इससे वे जहाँ-तहाँ उलटे-पलटे पड़े हैं। यह क्रोधका सूचक है।

टिप्पणी ३—'*कुमतिहि कसि कुबेषता·····*' इति। (क) कुवेष बनानेका भाव कि सुवेष धारण किये रहनेसे राजाको यह न मालूम होता कि रानी कुपित हैं। कुवेष बनानेसे राजा पूछेंगे कि क्यों कुपित हो। (कुवेष बनानेसे कवि उसे 'कुमति' विशेषण देते हैं; क्योंकि कुसङ्ग पाकर यह दुर्बुद्धि हो गयी। अपने हाथों अपना वैधव्य बुला लिया।) [(ख) '*कुबेषता फाबी*' इति। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि वह भूमिपर पड़ी हुई कटी लताके समान अथवा आकाशसे गिरे हुए देवताके, पुण्य क्षीण होनेके कारण

* 'मोट'—ना० प्र, गी० प्रे०। पोट—राजापुर, भा० दा०।

स्वर्गसे गिरी किन्नरी, स्वर्गभ्रष्ट अप्सरा, असफल माया, बँधी हुई अप्सरा अथवा व्याधद्वारा विषैले बाणोंसे विद्ध हथिनीके समान देख पड़ती थी। (२। १०। २४—२६; २। ९। ६५) ये भाव '**फाबी**' शब्दसे सूचित कर दिये। पुनः भाव कि 'कुवेष' अच्छा नहीं लगता पर कैकेयीको यह फब रहा है, क्योंकि *'अन-अहिवात''''*] (ग) *'अन-अहिवात सूच'''*'—सब भूषणोंके उतार डालनेसे विधवाका रूप बन गया; क्योंकि इसे आगे विधवा होना है। 'सूच' का भाव कि यह बात अभी जानी हुई नहीं है कि वह विधवा होगी, पर कुवेष सूचित करता है कि वह विधवा होगी। '**फाबी**' का भाव कि कुवेष सावित्रीको नहीं फबता, विधवाहीको फबता है। यहाँ बताते हैं कि विधवाओंको किस प्रकार रहना चाहिये।

टिप्पणी—४ *'जाइ निकट'''''* इति। (क) इससे जनाया कि प्रथम दूरसे देखकर दुःखी हुए थे, यथा—*'सभय नरेसु प्रिया पहिं गयऊ।'* निकट पहुँचते-पहुँचते इतना देखा। जब और निकट पहुँचे तब हाल पूछने लगे। आगे जब अत्यन्त निकट पहुँचे तब शरीरपर हाथ फेरने लगे। (ख)—*'प्रान प्रिया केहि हेतु रिसानी'* इति। (स्त्रियाँ प्रायः दो कारणोंसे रूठा करती हैं। एक तो पतिकी प्रतिकूलतासे, दूसरे भूषण-वस्त्रादि अन्य प्रयोजनोंकी पूर्तिके लिये। अतः '**प्राणप्रिया**' कहकर जनाते हैं कि) तुम तो हमारी प्राण-प्रिया हो, हम सदा तुम्हारे मनके अनुकूल ही सब काम किया करते हैं, तब तुम क्यों कुपित हो, रिस तो तब करना था जब हम तुम्हारे अनुकूल न करते। (यह भी जनाया कि जो कुछ तुम कहोगी वह मैं अपने प्राणोंसे पूर्ण करूँगा।) '**आत्मनो जीवितेनापि ब्रूहि यन्मनसि स्थितम्।**' (वाल्मी० २। १०। ३५)

छं०—केहि हेतु रानि रिसानि परसत पानि पतिहि निवारई।
मानहुँ सरोष भुअंग भामिनि बिषम भाँति निहारई॥
दोउ बासना रसना दसन बर मरम ठाहरु देखई।
तुलसी नृपति भवतव्यता बस काम कौतुक लेखई॥

दो०—बार बार कह राउ सुमुखि सुलोचनि पिकबचनि।
कारन मोहिं सुनाउ गजगामिनि निज कोप कर॥ २५॥

शब्दार्थ—**परसत**=(स्पर्श) छूते ही, स्पर्श करते ही। **पानि** (सं० पाणि)=हाथ। **निवारई**=निवारण करती, झटक देती है, रोकती है, यथा—*'सैनहिं लखनहिं राम निवारे।'* **सरोष**=क्रोधयुक्त। **भुअंग भामिनि**=भुजंग (टेढ़ा चलनेवाला सर्प) की स्त्री, नागिन, सर्पिणी। **बिषम**=तीखी, टेढ़ी, क्रूरदृष्टिसे। **बासना**=इच्छा, अभिलाषा। **रसना**=जिह्वा,जीभ। **दसन**=दाँत। **बर**=वरदान। **मरम ठाहरु**=मर्मस्थान, सुकुमार अङ्ग। मर्म प्राणियोंके शरीरमें वह स्थान जहाँ आघात पहुँचनेसे अधिक वेदना होती है, प्रकृति-स्थान और परिणामभेदसे मर्म ५ प्रकारके होते हैं। **भवतव्यता**=होनहार। **कौतुक**=तमाशा, खेल, क्रीडा। **लेखई** (सं० लेखन)=मन-ही-मन ठहराते हैं, समझते हैं, सोचते हैं, विचारते वा मानते हैं, यथा—*'सिय सौमित्रि रामछबि देखहिं। साधन सकल सफल करि लेखहिं॥'* **पिकबचनि**=कोकिलबयनी, कोकिलकी-सी मीठी कोमल सुरीली वाणीवाली।

अर्थ—हे रानी! किसलिये रूठी हो? (ऐसा कहते हुए राजाने उसको हाथसे स्पर्श किया) हाथसे स्पर्श करते ही वह पतिको (उनके हाथको) झटककर रोकती है और ऐसे देखती है मानो नागिन क्रोधमें भरी हुई टेढ़ी तीखी दृष्टिसे देख रही है। दोनों वासनाएँ (नागिनकी) जीभें हैं। दोनों वर दाँत हैं। वह काटनेके लिये मर्मस्थल देख रही है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि राजा होनहारके वश इसे (हाथ झटकने इत्यादिको) कामदेवकी क्रीड़ा ही समझ रहे हैं*। राजा बारम्बार कह रहे हैं—हे सुमुखि! हे सुलोचनि!! हे कोकिलबयनी!!! हे गजगामिनि!!! अपने कोपका कारण मुझे सुना॥ २५॥

* पंजाबीजी, पं० शिवलाल पाठकजी और प्रोफे० दीनजी भी यही अर्थ करते हैं कि 'रानी काम-कौतुक कर रही है। वे यह नहीं समझते कि सर्वनाशका प्रबन्ध कर रही है, नहीं तो उसकी बातोंमें न आते'। २—बाबा

टिप्पणी—१ *'केहि हेतु रानि रिसानि……'* इति। (क) एक हेतु पूछ चुके, अब दूसरा हेतु पूछते हैं। *'रानि'* सम्बोधनका भाव कि जो रंक होती हैं, वह भूषणवस्त्रादि किसी वस्तुके लिये रिसाती हैं पर तुम तो रानी हो, सब कुछ तुम्हारा ही है, तुम्हें किसी वस्तुकी कमी नहीं है जिसके लिये तुम रिस करो, तब कोपका क्या कारण है? [पुनः भाव कि तुम चक्रवर्ती महाराजकी प्राणप्रिय रानी हो, तुम्हें भिखारिनीके समान *'पटु मोट पुराना'* पहनना और आभूषणोंका फेंक देना उचित नहीं। (प० प० प्र०)] (ख)—*'परसत पानि पतिहि निवारई'*—कैकेयीको भुअंगभामिनी यहाँ कह रहे हैं। सर्पिणी छूनेसे क्रोध करती है, वैसे ही राजाके स्पर्श करनेसे, हाथ फेरनेसे कैकेयीने क्रोध किया कि (देखो तो) सौतके कहनेसे हमारे पुत्रको तो ननिहाल भेज दिया और उसके पुत्रको राज्य देते हैं, झूठे ही हमारे ऊपर हाथ फेरते हैं। (प्र० सं० में हमने लिखा था कि 'जैसे नागिन छूते ही फुफकार मारकर काटनेको करती है वैसे ही यहाँ कैकेयी झुँझलाकर बोली कि हमसे न बोलो, न पूछो और हाथ झटक दिया। पर मेरी समझमें वह 'बोलीं' यह कहना ठीक नहीं। 'निवारण' करना केवल हाथसे ही हुआ। अभी वह बोलती नहीं है। वाल्मी० और अ० रा० से भी ऐसा ही सिद्ध होता है)।

टिप्पणी—२ *'मानहु सरोष भुअंग भामिनि……'* इति। [(क) सर्पिणी जब काटनेको होती है तब उसकी जिह्वा लपलपाती है; इसी भावसे *'सरोष बिषम भाँति निहारई'* कहा। (प्र० सं०)] (ख) *'भुअंग भामिनि'* इति। मन्थराको मधुमक्खी मारनेवाली किरातिनी कहा था, यथा—*'देखि लागि मधु कुटिल किराती। जिमि गवँ तकइ लेउँ केहि भाँती॥'* (१३। ४) और यहाँ कैकेयीको भुअङ्ग-भामिनी कहते हैं। भेदमें भाव यह है कि किरातिनी जब मधु ले लेती हैं तब मधुमक्खियाँ व्याकुल हो जाती हैं, पर मर नहीं जाती हैं, उनको फिर मधु पीनेका अवसर मिलता है, फिर छत्ता लगाती और मधु पीती हैं। इसी तरह मन्थरारूपिणी किरातिनीने जब रामराज्यरूपी मधु ले लिया तब अवधवासीरूपी मधुमक्खियाँ विकल हो गयीं। यथा—*'कृस तन मन दुख बदन मलीने। बिकल मनहु माखी मधु छीने॥'* (७६। ४) अर्थात् रामराज्याभिषेक भङ्ग होनेसे अवधवासी व्याकुल हो गये, पर आगे वे पुनः रामराज्य देखेंगे। (मधुके पुनः होनेसे मक्खी पुनः सुखी हो जाती है, वैसे ही वनवासकी चौदह वर्षकी अवधि व्यतीत होनेपर रामराज्य पाकर अवधवासी फिर सुखी होंगे।) किंतु कैकेयी सर्पिणी है। नागिनके डँसनेसे मृत्यु होती है; यह राजाको डँसेगी जिससे राजाकी मृत्यु होगी; वे रामराज्य न देख पायेंगे। (यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।)

प० प० प्र०—*'भुअंग भामिनि'* का भाव कि दशरथजी भी भुजङ्ग बन जायँगे। कैकेयीके भुजङ्गिनी बननेसे कुछ न बिगड़ता, यदि दशरथजी भुजङ्ग न बनते। पर दशरथजीको भी भुजङ्ग बनानेसे सूचित किया कि दोनों मिलकर अवधको मृतप्राय करेंगे। कैकेयीजीके सम्बन्धमें बारम्बार 'भामिनि' शब्दका प्रयोग इसी भावसे हुआ है कि उनका स्वभाव ही क्रोधी था।

टिप्पणी—३ *'दोउ बासना रसना दसन बर……'* इति। (क) सर्पके दो जिह्वाएँ होती हैं, इसीसे दोनों वासनाओंको जीभ कहा। वरदानको दाँत कहा, क्योंकि दाँतके लगनेसे मृत्यु होती है। वरके माँगनेसे राजाकी मृत्यु होगी। [मृत्युकारक एक ही दाँत होता है, जो तालूमें होता है जहाँ विष रहता है। वैसे ही यहाँ राजाका प्राण हरनेवाला वर एक 'रामवनवास' ही है। दूसरे दाँतसे मृत्यु नहीं होती, वैसे ही दूसरे (भरत-राज्याभिषेक) वरसे मृत्यु नहीं होती वरंच केवल किञ्चित् दुःख होता। यथा—*'बर दूसर असमंजस माँगा,'* *'जीवन मोर राम बिनु नाहीं।'* (प्र० सं०)] सर्पिणी मर्मस्थान ढूँढ़ती है कि जहाँ काटनेसे फिर मनुष्य जीवित न हो। वैसे ही रानी भी राजाका मर्मस्थान देख रही है कि उस समय वर माँगूँ जब राजा फिर टल न सके। रामशपथ करना ही मर्मस्थल है, यथा—*'भूपति राम सपथ जब करई। तब माँगेहु जेहि बचन न टरई॥'* (२२। ८) (यह चेरीने पहले बता रखा है उसीकी राह देख रही है।)

हरिहरप्रसाद दूसरा अर्थ यह कहते हैं कि 'राजा भावीवश हैं, इससे कामदेव उनका तमाशा देख रहा है। भाव यह है कि महाराज कामका तमाशा देखने योग्य न थे, यह भावीकी प्रबलता दिखा रही है।' ३—वीरकवि यह अर्थ लिखते हैं कि 'राजा होनहारके अधीन हैं और कामविनोद लिखना निमित्तमात्र है। अर्थात् असली कारण होनहार है, पर ऊपर उसे न वर्णनकर राजाको कामके अधीन कहा गया जो निमित्तमात्र है। यह 'अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार' है।' बैजनाथजीने यही लिखा है।

टिप्पणी—४ *'तुलसी नृपति भवतव्यता बस·····'* इति। कैकेयी मर्मस्थान देख रही है और राजा इसे काम-कौतुक समझ रहे हैं। भाव कि राजा गाफिल हैं, धोखा खा गये। जब सर्पिणी क्रोध करती है तब काटती है। रानी राजाकी ओर विषम दृष्टिसे देख रही है। पर राजा समझते हैं कि वह कामक्रीड़ा अर्थात् कटाक्ष कर रही है। (वे समझे कुछ और, और यहाँ था कुछ और। इसीसे कवि उनको निर्दोष करते हैं कि भावीवश वे ऐसा समझे नहीं तो ऐसा समझना न चाहिये था। इन वचनोंसे कविने वाल्मीकिजीके वचनोंका सुधार किया है।)

अ० दी० च०—*'तुलसी नृपति भवतव्यता बस काम कौतुक लेखई'* इसके भावपर कोई ऐसा अर्थ करते हैं कि राजा होनहारवश कामवश होकर सूख गये हैं। अ० दी० कार इस भ्रमको मिटानेके लिये लिखते हैं कि 'राजा होनहारवश समझे कि मैं १४ दिन राज्याभिषेककी तैयारीमें लगा रहनेसे कैकेयीके घरमें नहीं आ सका। आज पन्द्रहवें दिन आया, इसीसे रानीको मेरी ओरसे अरुचि अर्थात् मान है। पतिकी प्यारी रूपवती स्त्री पतिका अधिक दिन संसर्ग छूट जानेसे कामवश मानवती हो जाती है। कैकेयीको शय्या प्रिय है, वह काम-कौतुक कर रही है—जब राजाको यह भ्रम हुआ तब वे उसका मान छुड़ानेके लिये कहते हैं *'रामहिं देउँ कालि जुवराजू·····'* यदि राजा कामवश होते तो ऐसा न कहकर कि 'रामराज्यकी तैयारी करो' काममें प्रवृत्त हो जाते। अतः यह कहना कि राजा कामवश हुए, अयोग्य है।

राजाने यह समझकर कि यह कामवश मानवती है, इससे राजाने भी कामातुरका स्वाँग रचा जिसमें वह मान छोड़ दे, उसके अङ्गोंका स्पर्श उसके हृदयकी कसक मिटानेके लिये करने लगे। रानीने भी समझ लिया कि इनको यह भ्रम है, अतः उसने सोचा कि मैं भी उनके अनुमानके अनुकूल बन जाऊँ, जिसमें राजाको पता न चले कि मैं रामराज्यमें बाधा डालनेके लिये कुपित हूँ। अतः वह *'बिहँसि उठी'* और भूषण सजने लगी, जिससे राजाको विश्वास हो गया कि मेरे अङ्गस्पर्श करनेसे रानीका मान टूट गया, सत्य ही वह कामकौतुकवश मानवती थी। परंतु राजा कामवश कदापि नहीं थे, वे तो रामराज्याभिषेकके आनन्दमें मग्न थे, इसीसे तो उन्होंने तिलकका समाचार सुनाया।

टिप्पणी—५ *'बार बार कह राउ·····'* इति (क) राजाने बारम्बार कोपका कारण पूछा है। यथा—*'प्रानप्रिया केहि हेतु रिसानी।' 'केहि हेतु रानि रिसानि', 'कारन मोहि सुनाव गजगामिनि निज कोप कर।'* यह भाव दिखानेके लिये ग्रन्थकारने तीन बार लिखा। (ख) *'सुमुखि, सुलोचनि, पिकबचनि, गजगामिनि'* सम्बोधनका भाव कि हमारे आगमनपर अपना सुन्दर मुख दिखाकर, अपने सुन्दर मृगशावकनेत्रोंसे अवलोकन करके, सुन्दर मुखसे कोकिलसमान सुन्दर मधुर वचन सुनाकर और सुन्दर गजकी मतवाली चालसे हमारे पास आकर हमें सदा सुख दिया करती थीं, सो आज वह सब सुख क्यों नहीं दे रही हो।* (इन चार विशेषणोंको देकर गुसाईंजीने पतिव्रताके चार लक्षण दिखाये हैं। उनपर पतिव्रताकी मुहर (छाप) लगायी है। पतिव्रताको चाहिये कि आगे चलके मुख दिखाकर मधुर वचन बोले और सुन्दर अवलोकनसे पतिको प्रसन्न करे।) यथा—*'आश्रम निरखि भूले, द्रुम न फले न फूले, अलि खग मृग मानो कबहूँ न हे। मुनि न मुनिबधूटी, उजरी परन कुटी पंचबटी पहिचानि ठाढ़ेइ रहे॥ उठी न सलिल लिए प्रेम मुदित हिये प्रिया न पुलकि प्रिय बचन कहे। पल्लव सालन हेरी प्रानबल्लभा न टेरी, बिरह बिथकि लखि लषन गहे॥ देखे रघुपति गति बिबुध बिकल अति, तुलसी गहन बिनु दहन दहे।'* (गी० आ० पद १०) कैकेयी राजाके प्रति नित्य इनको वर्तती रहीं। परंतु आज उसने इनमेंसे एक भी न बरता; रामराज्य इनमें बाधक हुआ। [पुनः भाव कि 'तेरा सुन्दर मुख है, नेत्र भी सुन्दर, बोली भी सुन्दर, चाल भी अच्छी है, फिर भी तू कोप कर रही है, क्या कारण है? शीघ्र कह। राजा इन विशेषणोंद्वारा प्रेम दिखाकर कैकेयीका मान भङ्ग करना चाहते हैं।' (दीनजी)]

नोट—*'बार बार'* पूछनेका कारण यह है कि कैकेयी कोपका कारण बताती नहीं, (मौन है)।

* वाल्मी० २। १०। १८-१९ के 'नहि तस्य पुरा देवी तां वेलामत्यवर्तत।' 'न च राजा गृहं शून्यं प्रविवेश कदाचन। .....' अर्थात् देवी कैकेयीने आजतक राजाके इस समयको कभी लाँघा न था, सूने घरमें राजाने कभी प्रवेश न किया था—इन वचनोंसे भी यह भाव पुष्ट होता है।

वह बताती इसलिये नहीं कि अभी बोलनेमें हानि है। मन्थराने इसे खूब सिखा रखा है कि '*काजु सँवारेहु सजग सबु सहसा जनि पतिआहु॥*' (२२) जबतक वचनबद्ध न हो जायँ तबतक मौन रहना, यथा—'·····**तूष्णीमातिष्ठ भामिनि।**' (अ० रा० २। २। ७४) '**यावत्सत्यं प्रतिज्ञाय राजाभीष्टं करोति ते।**' '*बार बार कह*' कहकर चार सम्बोधन दे-देकर कई बार पूछा। अर्थात् हे सुमुखि! कोपका कारण कहो। हे सुलोचनि! कोपका कारण कहो—इत्यादि। चार सम्बोधनोंमें आदरकी विप्सा है।

अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा। केहि दुइ सिर केहि जम चह लीन्हा॥ १॥

कहु केहि रंकहि करौं नरेसू। कहु केहि नृपहिं* निकासौं देसू॥ २॥

सकउँ तोर अरि अमरउ मारी। काह कीट बपुरे नर-नारी॥ ३॥

शब्दार्थ—**अनहित**=अनभल, बुरा। **रंक**=दरिद्र। **निकासौं**=निकाल बाहर करूँ, शहर-बाहर करूँ, देशनिकाला दे दूँ। **अमरउ**=अमरको भी। **कीट**=कीड़ा-मकोड़ा। **बपुरे**=बेचारे।

अर्थ—हे प्रिये! तेरा अनभल किसने किया है? किसके दो सिर हो गये हैं? किसे यमराज लेना चाहते हैं अर्थात् किसकी मृत्यु आयी है॥ १॥ बताओ किस दरिद्रको राजा बना दूँ? किस राजाको देशसे निकाल बाहर करूँ?॥ २॥ तेरा शत्रु अमर भी हो तो उसे भी मार सकता हूँ, बेचारे कीड़े-मकोड़े-समान स्त्री-पुरुष (मनुष्य) किस गिनतीमें हैं॥ ३॥

नोट—१ अनेक बार रिसका कारण पूछनेपर भी कैकेयी न बोली, क्योंकि वह अपने कार्य-साधन-हेतु राजाके रामशपथ करनेकी प्रतीक्षा कर रही है, जैसा कुबरीने उसे पाठ पढ़ाया था, यथा—'*भूपति राम सपथ जब करई। तब माँगेहु जेहि बचन न टरई॥*' राजाने अपनी ओरसे रिसका हेतु जो अनुमान किया सो कहने लगे।

नोट २— (क) '*केहि दुइ सिर*'—भाव यह कि एक सिरवालेकी मजाल नहीं कि तुम्हारा अनभल ताकता भी, क्योंकि वह समझ सकता है कि उसका सिर अवश्य काट लिया जायगा। निडर होकर वही अनभल कर सकता होगा, जिसके दो सिर हों कि एक कट जायगा तो क्या, एक तो बच रहेगा, मृत्यु तो न होगी। कथनका तात्पर्य यह है कि जिसने तुम्हारे साथ बुराई की उसका सिर मैं काट लूँ। यदि वह दो सिरवाला हो तो भले ही चाहे कुछ दिन बच जाय, जबतक दूसरा सिर भी न कट जाय। ऐसा ही विनय-पत्रिकामें कहा है—'*हैं काके द्वै सीस ईसके जो हठि जनकी सीम चरै।*' (पद १३७) (ख) '**केहि जम चह लीन्हा**' भाव कि जिसने ऐसा किया उसका बुलावा यमराजके यहाँसे आ गया, उसकी यमपुरकी तैयारी हो गयी, उसकी मौत आ गयी, मैं उसके प्राण ले लूँगा, इसमें किञ्चित् सन्देह नहीं है।

नोट—३ '*सकउँ तोर अरि अमरउ मारी·····।*' इति। अर्थात् अनभल करनेवाला अमर ही क्यों न हो, अर्थात् जो किसीसे मर न सके वा देवताओंमेंसे ही कोई क्यों न हो, मैं तुम्हारे लिये उसको भी मार सकता हूँ। भाव यह कि कैसा ही कठिन वैरी हो मैं उसे भी जीता न छोड़ूँगा। अमरका मरना असम्भव है, उसकी अपेक्षामें मनुष्योंको कीड़ा कहा। अर्थात् इनका मारना तो कोई बात ही नहीं, जैसे कीड़े-मकोड़े सहज ही मर जाते हैं। श्रीहनुमान्‌जीने अमर राक्षसोंको दण्ड दिया था। उससे मिलान कीजिये, यथा—'*जे रजनीचर बीर बिसाल कराल बिलोकत काल न खाए। ते रन रोर कपीस किसोर बड़े बरजोर परे फँग पाए॥ लूम लपेटि अकास निहारि कै हाँकि हठी हनुमान चलाए। सूखि गे गात चले नभ जात, परे श्रम-बात न भूतल आए॥*' (क० ६। ३७)

नोट—४ '*अनहित तोर·····नर-नारी*' इति। ऐसा ही अ० रा० और वाल्मी० रा० में कहा है। यथा—'को

* नृपति—पं० रामकुमार, बाबा रघुनाथदास (मा० दी०)।

वा तवाहितं कर्ता नारी वा पुरुषोऽपि वा। स मे दण्ड्यश्च वध्यश्च भविष्यति न संशयः॥' (९) **'ब्रूहि कं धनिनं कुर्यां दरिद्रं ते प्रियङ्करम्। धनिनं क्षणमात्रेण निर्धनं च तवाहितम्॥'** (१२) **'ब्रूहि कं वा वधिष्यामि'''''** (अ० रा० २। ३। १३) '''''**केन वा विप्रियं कृतम्।'** (३१) **अवध्यो वध्यतां को वा वध्यः को वा विमुच्यताम्। दरिद्रः को भवेदाढ्यो द्रव्यवान्वाप्यकिञ्चनः।'** (वाल्मी० २।१०।३३-३४) भाव तीनोंका एक ही है, पर शब्द मानसके उनसे कहीं जोरदार हैं, पाठक स्वयं विचार लें।

मुं० रोशनलालजी—होनहारवश राजाके मुँहसे वही शब्द निकल रहे हैं जो सत्य ही होनेवाले हैं। राजा वही करनेको कह रहे हैं जो कैकेयी चाहती है, जिसके लिये वह कोपभवनमें आयी है। भरतजी रंकसे राजा किये जावें, राज्यके उत्तराधिकारी जिनका अभिषेक निश्चय हो गया उन राम-राजाको वनवास दिया जावे—ये दोनों कैकेयी चाहती ही हैं। रही तीसरी बात *'केहि जम चह लीन्हा'* सो यह अपने अधीन है, उसको राजा अपने ही लिये स्वीकार करेंगे, दूसरेको यमपुर न भेजकर स्वयं ही चलते हुए।

बाबा हरिहरप्रसादजी—***'केहि रंकहि करउँ नरेसू'*** और ***'केहि नृपहिं निकासौं'*** कहकर जनाया कि मैं तुम्हारी रीझ और खीझ दोनोंका पालन कर सकता हूँ।

दशरथजीका स्त्रैणत्व

पं० रामचन्द्र शुक्ल—इस वृद्धावस्थामें राजा अपनी छोटी रानीके वशमें थे, यह उस घबराहटसे प्रकट होता है जो उसका कोप सुनकर उन्हें हुई। वे उसके पास जाकर कहते हैं—***'अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा''''' परिजन प्रजा सकल बस तोरे।'*** प्राण, पुत्र, परिजन, प्रजा सबका कैकेयीके वशमें होना यही अभिव्यञ्जित करता है। एक स्त्रीके कहनेसे किसी मनुष्यको यमराजके यहाँ भेजनेके लिये, किसी दरिद्रको राजा बनानेके लिये, किसी राजाको देशसे निकालनेके लिये तैयार होना स्त्रैण होनेका ही परिचय देता है। कैकेयीके पास जानेपर न्याय और विवेक थोड़ी देरके लिये विश्राम ले लेते थे। वाल्मीकिजीने भी इसी प्रकारकी बातें उस अवसरपर दशरथसे कहलायी हैं।

दशरथके हृदयकी इस दुर्बलताके चित्रके भीतर प्रचलित दाम्पत्य विधानका वह दोष भी झलकता है, जिसके पूर्ण परिहारका पथ आगे चलकर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्रने अपने आचरणद्वारा प्रदर्शित किया। आधी उम्रतक विवाह-पर-विवाह करते जानेका परिणाम अन्तमें एक ऐसा बेमेल जोड़ होता है जो सब मामलोंका मेल बिगाड़ देता है और जीवन किरकिरा हो जाता है। एकमें तो प्रेम रहा करता है, दूसरेमें स्वार्थ। अतः एक तो दूसरेके वशमें हो जाता है और दूसरा उसके वशके बाहर रहता है। एक तो प्रेमवश दूसरेके सुख-सन्तोषके प्रयत्नमें रहा करता है, दूसरा उसके सुख-सन्तोषकी वहींतक परवाह रखता है जहाँतक उससे स्वार्थसाधन होता है।

टिप्पणी—१ *'अनहित तोर'''''* इति। (क) राजाने बारम्बार कारण पूछा पर वह न बोली; तब जहाँ-तक उनको कोपका कारण समझ पड़ा वह सब आप ही कह चले। ***'केहि दुइ सिर'*** अर्थात् वह कौन है जिसने सिर काटे जानेका भय न किया, यथा—***'दुइ माथ केहि रतिनाथ जेहि कहुँ कोपि कर धनुसर धरा।'*** (१। ८४) इसपर न बोली तब समझे कि किसी रंकको नरेश करना चाहती है। उत्तर न मिलनेपर सोचा कि किसी राजापर कुपित है, अतः कहा कि किस नृपतिको देशसे निकाल दूँ, सो कहो। फिर भी न बोली तब कहा कि कोई देवता हो अमर हो तो उसे भी मार सकता हूँ। (ख)—***'कहु केहि रंकहि करौं नरेसू'*** से अनुग्रह दिखाकर तब निग्रह कहते हैं कि *'कहु केहि नृपहिं''''।'* तात्पर्य यह कि तुम्हारी प्रसन्नता और अप्रसन्नता दोनोंका फल हम दे सकते हैं, रङ्कको राजा और राजाको रङ्क कर सकते हैं।

टिप्पणी २—राजा जानते हैं कि रानी धर्मात्मा है, किसी रङ्कको राजा बनानेको कहेगी, इसलिये रिसानी है, अथवा किसी राजाको देशसे निकालनेको कहेगी; अतएव यहाँ ***'कहु'*** पद देते हैं। और, आगे ***'सकउँ तोर अरि अमरउ मारी'*** में ***'कहु'*** पद नहीं दिया; क्योंकि रानी धर्मात्मा है, किसीको वध करनेको न कहेगी। (ग) ***'सकउँ तोर'''''*** इति। सबको मारना सुगम है पर अमरको मारना अगम है, इसीसे यहाँ ***'सकउँ'***

पद देते हैं। (पूर्वार्धमें *'सकउँ तोर अरि अमरउ मारी'* कहकर *'काह कीट बपुरे नर-नारी'* अर्थात् मनुष्य क्या चीज हैं, वे तो मरे-मराये ही हैं, कहना 'काव्यर्थापत्ति अलङ्कार' है।)

वि० त्रि०—ये मानिनी स्त्रीको मनानेके लिये नर्ममें कहे हुए वचन प्रमाण नहीं हैं, इससे यह न समझना चाहिये कि राजाने स्त्रीके लिये न्यायको उठाकर ताकपर रख दिया। अतः इसके लिये राजा शपथ भी नहीं लेते। जिस बातके लिये शपथ लिया वे ये हैं, यथा—*'प्रिया प्रान सुत सरबस मोरें। परिजन प्रजा सकल बस तोरें॥ जो कछु कहौं कपट करि तोही। भामिनि राम सपथ सत मोही॥ बिहँसि माँगु मन भावति बाता। भूषन सजइ मनोहर गाता॥'*

जानसि मोर सुभाउ बरोरू। मनु तव आनन चंद चकोरू॥ ४॥
प्रिया प्रान सुत सरबसु मोरें। परिजन प्रजा सकल बस तोरें॥ ५॥
जौं कछु कहउँ कपट करि तोही। भामिनि रामसपथ सत मोही॥ ६॥
बिहँसि मागु मनभावति बाता। भूषन सजहि मनोहर गाता॥ ७॥
घरी कुघरी समुझि जिय देखू। बेगि प्रिया परिहरहि कुबेषू॥ ८॥

शब्दार्थ—**बरोरू**=(वर+उरु) श्रेष्ठ जङ्घोंवाली, सुन्दरी। **आनन**=मुख। **सरबसु**=सर्वस्व, राज्य-साज सभी कुछ, सारी सम्पत्ति, जो कुछ मेरा है वह सब। **परिजन**=परिवार; कुटुम्बी; आश्रित या पोष्यवर्ग; वे लोग जो अपने भरण-पोषणके लिये किसी एक व्यक्तिपर अवलम्बित हों, जैसे स्त्री, पुत्र, सेवक आदि। **भावति**=अच्छी लगनेवाली। **सजहि**-शरीरपर सँवारकर पहिनना, जो गहना जिस अङ्गका है उस अङ्गमें ठीकसे पहिनना, अलङ्कृत होना, सजना कहलाता है। **'भूषन सजहि'** अर्थात् अपना शृङ्गार करो। **घरी कुघरी**=समय-कुसमय, मौका-बेमौका।

अर्थ—हे सुन्दरि! तू मेरा स्वभाव जानती है कि मेरा मन तेरे मुखचन्द्रका चकोर है॥ ४॥ हे प्रिये! प्राण, पुत्र, परिजन, प्रजा जो कुछ भी मेरा है वह सब तेरे वशमें है॥ ५॥ यदि मैं तुझसे कुछ कपट करके कहता हूँ तो हे भमिनि! मुझे रामजीकी सौ बार सौगन्ध है॥ ६॥ हँसी-खुशीसे मनको भानेवाली वस्तु मुझसे माँग लो और सुन्दर शरीरपर आभूषण सजाओ॥ ७॥ अपने मनमें मौका-बेमौका (अवसर-कुअवसर) तो विचार देखो। हे प्रिये! कुवेषको शीघ्र ही त्यागो॥ ८॥

नोट—१ *'जानसि मोर सुभाउ'''* इति। भाव, तुम मेरे हृदयकी जानती हो कि मैं तुम्हारे वशीभूत हूँ, अपना बल जानती हो कि तुम्हारा कितना अधिकार मुझपर है, तब मुझे क्यों खिन्न कर रही हो, बोलती क्यों नहीं? तुम्हें मुझपर शङ्का न करनी चाहिये। यथा—**'जानासि त्वं मम स्वान्तं प्रियं मां स्ववशे स्थितम्। तथापि मां खेदयसे वृथा तव परिश्रमः॥'** (अ० रा० २। ३। ११) **'बलमात्मनि जानन्ती न मां शङ्कितुमर्हसि।'** (वाल्मी० २। १०। ३५)

टिप्पणी—१ ऊपर अन्यका हाल कहा, अब अपना हाल कहते हैं कि जैसे चकोर एकटक चन्द्रमाको देखता रहता है वैसे ही मेरा मन तेरे मुखको देखता रहता है, तेरे मुखचन्द्रपर मुग्ध और लुब्ध रहता है। तुम्हारे प्रेममें आसक्त हूँ। तात्पर्य यह कि सब मेरे बसमें हैं और मैं तुम्हारे बसमें हूँ। चन्द्र-चकोरकी उपमा देकर अनन्यता दिखाते हैं, आगेके *'बस तोरें'''* शब्द इसके साथ भी हैं। अपना हाल कहकर अब जो अपने हैं उनका हाल आगे कहते हैं कि *'प्रिया प्रान सुत''।' 'मन तव आनन'''* में परम्परित रूपक है। [मयङ्ककार कहते हैं कि इसमें यह भाव है कि 'मेरा मन-चकोर कौशल्यादि रानियोंके मुख-नक्षत्रको कभी नहीं देखता, तुम्हारे ही मुखचन्द्रकी सुधाका पान करता है। अर्थात् तुम सब रानियोंसे मुझे अधिक प्रिय हो। मयङ्ककारका यह भाव वाल्मीकीयके **'न मया सत्कृता देवी सत्कारार्हा कृते तव। इदानीं तत्तपति मां यन्मया सुकृतं त्वयि॥'** (१२। ७०) (अर्थात् तेरे भयसे मैंने सत्कार करनेयोग्य कौसल्याका सत्कार नहीं किया, आज मुझे इस बातसे कितना कष्ट हो रहा है) इन वचनोंसे पुष्ट होता है।]

टिप्पणी—२ *'प्रान सुत सरबस मोरें"""।'* इति। प्रथम प्राण कहा, क्योंकि प्राण सबसे अधिक प्रिय है, यथा—*'देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं।'* (१। २०८। ४) प्राणके समीप सुतको कहा, क्योंकि सुत प्राणके समान ही प्रिय हैं, यथा—*'सब सुत प्रिय मोहि प्रानकी नाईं।'* (१। २०८) मुख्य प्राण और सुत हैं, उनसे कम सर्वस्व, परिजन और प्रजा हैं, अतः क्रमसे एकके बाद दूसरेको कहा। सर्वस्व अर्थात् कोश, राज, सेना आदि सब साज-समाज सब पदार्थ। *'सकल बस तोरें'* अर्थात् यह सब तुम्हारे अर्पण है। [भाव कि तुम्हारी इच्छाको इन सबको देकर पूर्ण करूँगा, इच्छाको अपूर्ण नहीं होने दूँगा। यथा—'**अहं च हि मदीयाश्च सर्वे तव वशानुगाः। न ते कंचिदभिप्रायं व्याहन्तुमहमुत्सहे॥**' (वाल्मी० २। १०। ३४) यहाँ 'कारणमाला' अलङ्कार है]।

टिप्पणी—३ *'जौं कछु कहउँ कपट करि तोही।'* इति। राजाने एक साथ बहुत-सी बातें कह डालीं। बहुत बातोंसे कपटकी सम्भावना होती है। रानी समझतीं कि हमारे प्रसन्न करनेके लिये ये सब बातें कपटसे (बनाकर) कह रहे हैं, राजा जितना कह रहे हैं उतना कर नहीं सकते। अतएव राजा कपटकी सफाईमें शपथ करते हैं कि *'जौं कछु"""।'* मुझे रामजीकी सौ शपथ है अर्थात् मुझे सौ शपथका पाप लगे, मेरा सुकृत और स्नेह नष्ट हो जाय। यथा—*'तेहिपर राम सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई॥'* (२८। ७) पुनः 'सत शपथ' अर्थात् मुझे रामकी सत्य शपथ है वा समीचीन शपथ है। (श्रीरामजीकी शपथ करके जनाया कि श्रीरामजीसे अधिक प्रिय राजाको कोई और नहीं। यथा—'**अवलिप्ते न जानासि त्वत्तः प्रियतरो मम। मनुजा मनुजव्याघ्राद्रामादन्यो न विद्यते॥**' (वाल्मीकि० २।११।५), '**तेनाजय्येन मुख्येन राघवेण महात्मना। शपे ते जीवनार्हेण ब्रूहि यन्मनसेप्सितम्॥**' (६) अर्थात् मनुष्यश्रेष्ठ, अजेय, जीवनसे भी श्रेष्ठ महात्मा रामको छोड़कर तुमसे अधिक और कोई भी प्रिय नहीं है सो उनकी शपथ तुम्हारे लिये मैं करता हूँ, तुम बताओ कि क्या चाहती हो? पुनः भाव कि जिनके बिना मैं जी नहीं सकता उनकी शपथ करता हूँ, इससे तुम मेरे हृदयकी अवस्था जान लो और मुँहमाँगा माँगकर मेरा उद्धार करो। यथा—**यं मुहूर्तमपश्यंस्तु न जीवे तमहं ध्रुवम्। तेन रामेण कैकेयी शपे ते वचनक्रियाम्॥**' (७) **भद्रे हृदयमप्येतदनुमृश्योद्धरस्व मे।**' (वाल्मी० २। ११। ९) वाल्मीकीयमें पाँच श्लोकोंमें इस स्थानपर रामशपथका उल्लेख है। मानसमें *'राम सपथ सत'* कितना अधिक गौरवका है। प्रत्येक शपथमें भाव निकालते जाइये)।

नोट—२ 'भामिनी' शब्द भी यह सार्थक है। वास्तविक अर्थ 'मानवती-क्रोधवती' यहाँ घटित होता है। (मा० सं०)

टिप्पणी—४ *'बिहँसि माँगु""" मनोहर गाता'* इति। प्रथम मुख, नेत्र, वचन, गमन (चाल) और उरु, इनको सुन्दर कहा, यथा—*'बार बार कह राउ सुमुखि सुलोचनि पिकबचनि। कारन मोहि सुनाउ गजगामिनि निज कोप कर॥'* (२५) *'जानसि मोर सुभाउ बरोरू।'* अब सारे शरीरको सुन्दर कहते हैं—*'भूषन सजहि मनोहर गाता।'* तात्पर्य कि राजा कैकेयीके रूपपर आशिक (आसक्त) हैं, इसीसे बार-बार उसके स्वरूपकी सुन्दरता वर्णन करते हैं। कैकेयी रुष्ट है—*'मानहुँ सरोष भुअंग भामिनि"।'* अतः राजा कहते हैं कि रिस छोड़कर प्रसन्न हो और हँसकर वर माँगो। पुनः, '**मनोहरगाता**' कहकर सूचित करते हैं कि तुम्हारा शरीर तो सहज ही, बिना गहनेके ही मनको हर लेता है तो भी आभूषण धारण करो।

टिप्पणी ५—इस दोहेमें कैकेयीको राजाने पाँच विशेषण दिये—'**सुमुखि**', 'सुलोचनि', '**पिकवचनि**', '**गजगामिनि**' और '**बरोरू**'। इनका अभिप्राय यह है कि हे सुमुखि, हे सुलोचनि, हमारी ओर देखो; हे पिकवचनी! हमसे बोलो; हे गजगामिनि, हे वरोरू! यहाँसे शयनागारमें चलो और हमसे विलास करो। (नोट—यहाँ कामियोंकी दीनता दिखलायी है।)

नोट—३ *'माँगु मन भावति बाता। भूषन"""'* यहाँ यह कहा और आगे कहते हैं कि *'भामिनि भयउ तोर मन भावा।'* इससे जान पड़ता है कि कैकेयी राजासे पूर्व कई बार राम-राज्याभिषेकके लिये कह चुकी हैं, अतः राजा समझते हैं कि वही बात इस समय भी माँगना चाहती है, उसीके लिये रूठी है।

अतः, *'माँगु मन भावति बाता'* कहा। राजा इन वचनोंमें धोखा खा गये। धोखेहीसे उन्होंने यह बात कह डाली। वे इसी धोखेमें रहे कि रामराज्य ही इसके मनको भाया हुआ है, जैसा वे स्वयं ही आगे कह रहे हैं—*'भामिनि भयउ तोर मन भावा''रामहि देउँ कालि जुबराजू।'*

नोट—४*'घरी कुघरी समुझि''''''* इति। अर्थात् यह रामराज्याभिषेकका शुभ अवसर है, शुभ घड़ीमें क्रोध नहीं किया जाता और तुम ऐसे मङ्गलसमयमें कोपभवनमें पड़ी कुवेष धारण किये हो। यह घड़ी शृङ्गारसे सुसज्जित होनेकी है न कि कुवेषधारण या कोप करनेकी। राज्याभिषेक और शृङ्गारके योगसे 'घड़ी' और कोप एवं कुवेषके सम्बन्धसे 'कुघड़ी' कहा। घड़ी-कुघड़ी, मौका-बेमौका, यह मुहावरा है।—इसमें 'ललित' अलङ्कार है।

टिप्पणी—६ (क) क्रोध और कुवेषके लिये कुघड़ी बनायी गयी है। यह क्रोध और कुवेष करनेकी घड़ी नहीं है वरन् रामजीको राज्य देनेकी घड़ी है, यही आगे कहते हैं—*'रामहिं कालि देउँ जुबराजू।'* जिसे समझ देखो कि तुम्हारे मनकी बात हुई, कल रामराज्याभिषेक होगा यह घड़ी सुन्दर शरीरमें भूषण-वस्त्र सजनेका है—इस कथनसे सूचित होता है कि राजाको मालूम नहीं है कि कैकेयीके यहाँ तिलककी खबर नहीं पहुँची; इसीसे वे कहते हैं कि मङ्गल समयमें अमङ्गल-वेष बनाये हो (ख)—*'बेगि परिहरहि कुबेषू'* क्योंकि तुम्हारा कुवेष देखकर मुझे दारुण दुःख हो रहा है, यथा—*'देखि दसा दुख दारुन भयऊ'* कुवेष देखा नहीं जाता।

बाबा हरिदासजी यह घड़ी कुघड़ी है अर्थात् तुम्हारा कुवेष हमें क्षण-क्षणमें क्लेश दे रहा है।

दो०—यह सुनि मन गुनि सपथ बड़ि बिहँसि उठी मतिमंद।
भूषन सजति बिलोकि मृगु मनहुँ किरातिनि फंद॥ २६॥

अर्थ—यह सुनकर और मनमें इस शपथको बहुत बड़ी (वा, इस बड़ी शपथको) विचारकर मन्दबुद्धि कैकेयी हँसती हुई उठी और शरीरपर गहने ऐसे सजाने लगी मानो भीलनी मृगको देखकर फन्दा सजा रही हो॥ २६॥

नोट—१ *'सपथ बड़ि'* इति।—बड़ी क्योंकि राम-शपथ, सो भी सौ बार। मन्थराने तो एक बार शपथ करनेपर वर माँगनेको कह दिया था और यहाँ की गयीं सौ, अतः शपथको 'बड़ी' कहा। यह शपथ बड़े महत्त्वकी है। (वाल्मी० २। ११। ५—९ देखिये) ऐसी शपथपर भी विश्वास न कर अपने स्वामी-पर आघात करने चली; अतः **'मतिमन्द'** कहा। **'गुनि'** अर्थात् विचारकर कि मन्थराने जो कहा था उससे भी बड़ी सौगन्द यहाँ हुई, अब वर माँगनेका योग लगा, यही उसके लिये उचित अवसर है।

टिप्पणी—१ (क) *'बिहँसि उठी'*— पृथ्वीपर पड़ी थीं, अतः उठना कहा। राजाने कहा था कि *'बिहँसि माँगु'*, और राम-शपथ की। यह उसके मनकी बात पूरी हुई (क्योंकि मन्थराने सुझा रखा था कि राम-शपथ जबतक न करें तबतक वर न माँगना) अतः *'बिहँसि उठी।'* (ख) कैकेयी 'मतिमन्द' है। जब राजा बोले कि *'प्रिया प्रान सुत सरबस मोरें। परिजन प्रजा सकल बस तोरें॥ जौं कछु कहउँ कपट करि तोही। भामिनि रामसपथ सत मोही॥'* तब यह सुनकर उसे समझ लेना था कि राजा और ये सब हमारे वशमें हैं तब वर माँगनेका प्रयोजन ही क्या? वर माँगनेसे कौन वस्तु अधिक मिलेगी? उसे विश्वास कर लेना था कि राजा निष्कपट हैं, वे सत्य ही कह रहे हैं, अब वर माँगनेकी आवश्यकता नहीं रह गयी। पर उसे यह कुछ न समझ पड़ा। वह ऐसे अनुकूल पतिको भी मारनेको उद्यत हुई; अतः उसे **'मतिमंद'** कहा (ग) यहाँ राजा मृग, कैकेयी किरातिनी और आभूषण फन्दे हैं। राजाके फँसानेके लिये आभूषण सज रही है; तात्पर्य कि भूषण पहननेसे राजा प्रसन्न होकर वर देंगे, जो कहा न करूँगी और आभूषण न पहनूँगी तो वर न देंगे। स्त्रीका आभूषण पुरुषकी फाँसी है।

नोट—२ (क) यहाँ राजाको मृगकी उपमा दी; क्योंकि मृग नहीं जान पाता कि वह फाँसा जा रहा है। वैसे ही राजा कैकेयीके अन्तःकारणका मर्म न जान पाये। वे न समझ सके कि इसका हँसना और शरीरको आभूषणोंसे अलङ्कृत करना हमें केवल धोखेमें डालने और असावधान करनेके लिये है—। (उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार) (ख) इसको वाल्मीकीयके **'वाङ्मात्रेण तदा राजा कैकेय्या स्ववशं कृतः। प्रचस्कन्द विनाशाय पाशं मृग इवात्मनः॥'** (२। ११। २२) अर्थात् वचनोंके द्वारा कैकेयीके वशमें हुए राजा अपने विनाशके लिये मृगके समान पाशके पास गये— इस श्लोकसे मिलान करके देखिये कि किसमें अधिक चमत्कार है। वाल्मी० और अ० रा० में आभूषणोंके सजनेकी चर्चा नहीं है। वहाँ कैकेयीका वचन-बद्ध होना ही पाश है।

पुनि कह राउ सुहृद जिय जानी। प्रेम पुलकि मृदु मंजुल बानी॥ १॥
भामिनि भयउ तोर मन भावा। घर घर नगर अनंद बधावा॥ २॥
रामहि देउँ कालि जुबराजू। सजहि सुलोचनि मंगल साजू॥ ३॥

शब्दार्थ—**सुहृद** (सुहृत्)=अच्छे हृदयवाली, निष्कपट, मित्र। 'मङ्गलसाज' अर्थात् मङ्गल-कलश सजना, चौके पूरना इत्यादि—दोहा ८, ८ (२) देखिये।

अर्थ—अपने जीमें कैकेयीको सुहृद् जानकर प्रेमसे पुलकित हो सुन्दर कोमल वाणी राजा पुनः बोले॥ १॥ हे भामिनि! तेरा मनभाया हुआ। नगरमें घर-घर आनन्द-बधावे हो रहे हैं॥ २॥ मैं कल ही रामको युवराज पद दे रहा हूँ। हे सुनयनी! मङ्गलसाज सजो॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) ***'सुहृद जिय जानी'''''*** इति। सुहृद् कैसे जाना? इस तरह कि जो आज्ञा उसे दी उसने उसका पालन किया। ***'बिहँसि माँगु मनभावति बाता'*** कहा था सो उसे सुनकर वह **'बिहँसि उठी'** और दूसरी आज्ञा दी थी कि ***'भूषन सजहि मनोहर गाता'*** उसे सुनकर भूषण पहनने लगी। राजा समझे कि हमारी खुशीमें वह भी खुश है, हमारी हितकर्त्री है। (ख)—***'जिय जानी'*** का भाव कि राजा अपने जीमें जानते हैं कि वह सुहृद् है पर वह सुहृद् है नहीं, उसने आज्ञाका पालन सुहृदतासे नहीं किया। किन्तु मनकी बात हुई इससे विहँसी और राजाको फँसाना है इससे भूषण सजे, यथा—***'भूषन सजति बिलोकि मृग मनहु किरातिनि फंद।'***

टिप्पणी—२ ***'भामिनि भयउ तोर मन भावा।'''''*** इति। (क) इससे सूचित हुआ कि कैकेयीने किसी समय राजासे कहा था कि हमारे मनमें ऐसा है कि आप रामको राज्य दें। इसीसे राजा कहते हैं कि तेरा मनभावा हुआ। ***'भयउ तोर मन भावा', 'बिहँसि माँगु मन भावति बाता'*** यह बात राजा धोखेमें कह गये, क्योंकि वे समझते हैं कि इसे रामराज्य भाता है वही यह माँगेगी। प्रथम ***'मन भावति बाता'*** माँगनेको कहा था और अब आप ही उसकी **'मन भावती'** बात कहते हैं कि **'भामिनि— *रामहि देउँ कालि 'जुबराजू।'*** (२७। ३) देखिये। (ख)—***'आनन्द बधावा'***=आनन्द और बधावा। अर्थात् आनन्द-सम्बन्धी बधाइयाँ बज रही हैं। भाव यह कि अन्य सब लोग आनन्द मानते-मनाते हैं और यह तो तुम्हारा ही काम है, यथा—***'भयउ तोर मन भावा', 'राम तिलक जौं साँचेहु काली। देउँ माँगु मन भावति आली॥'*** (२५। ४) अतः तुम्हें, आनन्दमङ्गलका साज तो स्वयं स्वाभाविक ही सजाना चाहिये था। देखो अन्य-अन्य लोग मङ्गलसाज सज रहे हैं और तुम्हारे तो परमप्रिय पुत्रका ही तिलक हो रहा है, तुम्हें तो सबसे प्रथम ऐसा करना उचित था, सो तु अमङ्गलसाज सजाये हुए हो।

टिप्पणी—३ ***'रामहि देउँ कालि'''''*** इति। राजा रानीको प्रसन्न करना चाहते हैं, रानीकी प्रसन्नताकी सब बातें सुना रहे हैं। रामराज्य रानीको प्रिय था सो प्रथम सुनाया, उसके जल्दी होनेकी खबरसे वह अत्यन्त प्रसन्न होगी; अतः कहा कि ***'देउँ कालि'*** अर्थात् कल ही तिलक होगा। कल तिलक है अतएव आज मङ्गल सजो। ऊपर दोहा २३ में कहा था कि ***'प्रमुदित पुर नर नारि सब सजहिं सुमंगलचार'*** उस ***'सुमंगलचार'*** शब्दका

अर्थ यहाँ स्पष्ट किया। सुमङ्गलचार=सुमङ्गलसाज। देखिये, जब राजाने कहा कि *'भूषन सजहि मनोहर गाता'* तब वह भूषण सजने लगी, पर जब कहा कि *'सजहि सुलोचनि मंगलसाजू'* तब उसने मङ्गल सजना न प्रारम्भ किया। इस बातसे राजाको समझ लेना था कि उसका **'विहँसि उठना'** और **'भूषण सजना'** कपटपूर्ण था, उसने अपने कपटको हँसकर छिपाया है, यथा—*'ऐसिउ पीर बिहँसि तेहि गोई'।* राजा यह कुछ न समझे। उसको रामतिलक सुनकर असह्य पीड़ा हुई, जिसे उसने हँसकर दबा दिया और राजा उलटा समझे कि वह रामराज्य सुनकर प्रसन्न हुई है।

नोट—*'देउँ कालि'* से भी इस बातकी पुष्टि होती है कि कैकेयी पूर्व रामराज्यके लिये कह चुकी थीं। अत: राजा कहते हैं कि तुम रूठो मत, मैं तुम्हारा मनभाया पदार्थ आप ही दे रहा हूँ, तुम्हें माँगनेकी भी जरूरत न पड़ेगी, जो तुम माँगना चाहती हो वही तो हम कर रहे हैं। राजाको पूर्ण विश्वास है कि वह यही माँगेगी। अत: कहते हैं कि *'देउँ'* अर्थात् मैं दे रहा हूँ; अब इसमें किञ्चित् सन्देह न जानो। *'देउँ'* कहा, क्योंकि रानीको सन्देह है, यथा—*'माँगु माँगु पै कहहु प्रिय कबहुँ न देहु न लेहु।'*

दलकि उठेउ सुनि हृदउ कठोरू। जनु छुइ गयउ पाक बरतोरू॥ ४॥
ऐसिउ पीर बिहँसि तेहिं* गोई। चोर नारि जिमि प्रगटि न रोई॥ ५॥

शब्दार्थ—*'दलकना'*=(१) फट जाना, दरार खाना, चिर जाना, यथा—*'तुलसी कुलिसकी कठोरता तेहि दिन दलकि दली'*= (२) थर्राना, काँपना। यथा—*'महाबली बालिको दबतु दलकत भूमि तुलसी उछरि सिन्धु मेरु मसकतु हैं'* (३) चौंकना, उद्विग्न हो उठना। (उदाहरण)—*'दलकि उठेउ सुनि बचन कठोरू', 'कैकेयी अपने करमनको सुमिरत हियमें दलकि उठी'*—(देवस्वामी) (श० सा०)।=टपकने लगना, पीड़ा होना—(दीनजी)। *'दलकि उठेउ'*=असह्य ठेस लगी—(दीनजी) मानसी वेदना हुई। *बरतोरू*=बलतोर=बलतोड़, रगड़ आदिसे शरीरका रोआँ (बाल) टूटनेसे प्राय: उस जगह फुन्सी-फोड़ा निकल आता है, जिसे बलतोड़ कहते हैं। यह फोड़ा बड़ा कष्ट देता है, छू जाने या दब जानेसे इसमें बड़ी असह्य जलन और पीड़ा-वेदना होती है। **'पीर'**=पीड़ा, व्यथा। **'गोई'**=छिपायी।

अर्थ—यह सुनते ही उसका कठोर हृदय दलक उठा, मानो पका हुआ बलतोड़ छू गया हो॥ ४॥ ऐसी भारी पीड़ा भी उसने हँसकर छिपा ली, जैसे 'चोर नारि' प्रत्यक्ष नहीं रोती॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'दलकि उठेउ सुनि हृदउ कठोरू……'* इति। (क)—सब पके फोड़ोंसे पके बलतोड़में अधिक पीड़ा होती है, उसपर यह बलतोड़ तो अभी कच्चा ही है, आजकी ही रात्रिमें पैदा हुआ है, इसीसे 'कठोर' कहा। यहाँ कठोर हृदय 'बरतोर पाका' है। पुन:, (ख) भाव कि रामराज्य सुनकर उसका हृदय कठोर होनेपर भी दलक उठा। जैसे पके हुए बलतोड़के छू जानेसे असह्य पीड़ा होती है, मनुष्य काँप उठता है; वैसे ही उसे पीड़ा हुई, वह काँप उठी। जो दूसरेका काम बिगाड़ता है उसका हृदय कठोर होता है और बलतोड़ भी पहले कठोर होता है, पीछे पकनेपर 'गुलगुलाता' है। और, जैसे उसमें मुलायमत बनी रहती है वैसे ही परहितकी हानि करनेवालोंके हृदयमें पराया अकाजरूपी मुलायमत रहती है। (मलके रहते सुख नहीं) (ग) *'छुइ गयउ'*—भाव कि रामतिलक होनेकी पीर तो उसे आगेसे ही थी, अब राजाके सुनानेपर पीड़ा अधिक बढ़ गयी; जैसे बलतोड़में पीड़ा तो रहती ही है पर छू जानेसे पीड़ा बढ़ जाती है। मन्थराने पूर्व जो कहा था कि *'रामहि तिलक कालि जो भयऊ। तुम्ह कहँ बिपति बीज बिधि बयऊ॥'* वही बात राजाने कही कि *'रामहि कालि देउँ जुबराजू'*, इसीसे सुनकर उसके हृदयमें पीड़ा हुई।

'ऐसिउ पीर बिहँसि तेहिं गोई।''' इति। भारी पीड़ामें रोना आता है, वह रोई नहीं वरन् हँस दी, हँसकर पीड़ाको हृदयमें छिपा लिया। यद्यपि बहुत बड़ी पीड़ा है तथापि उसको दबाया, क्योंकि यदि राजा

* 'उर गोई'—(पं० रामकुमार)। तेइ—मा० दी० (बाबा रघुनाथदास)। तेहिं—राजापुर, रा० प०, १७६२, छ०।

जान गये कि रामतिलक सुनकर इसके हृदयमें पीड़ा हुई है तो वे कदापि वर न देंगे। हँसकर छिपाया, जिससे राजा समझें कि रामराज्य सुनकर प्रसन्न हुई है।

'चोर नारि जिमि प्रगट न रोई'—

दीनजी—*'चोर नारि'*—चोरीसे व्यभिचार करनेवाली स्त्री, परकीया नायिका। परकीयाका उपनायक यदि क्षतिग्रस्त हो पकड़ जाय या किसी आपत्तिमें पड़ जाय या मर जाय तो वह व्यभिचार खुल जानेके भयसे सबके सामने नहीं रोती।*

२—पुरुषोत्तम रामकु०—चोरकी स्त्री चोरके पकड़ जानेपर प्रकट नहीं रोती, क्योंकि प्रकट रोवे तो आप भी धरी जाय और माल भी जाय। वैसे ही कैकेयी यदि रामराज्य सुनकर व्यथा करे तो यह भेद खुल जाय, राजा जान जायँ कि यह कपट कर रही है, फिर वे इसका विश्वास न करेंगे, रानीको सजा हो और भरतको राज्य न मिले।

३—पण्डितजी—(१) चोर नारिके *'धिया'* (=जार?) पतिका सिर काट लिया गया। यदि वह प्रकट रोवे तो *'धड़ परै'* (पकड़ी जाय) उससे दण्ड लिया जाय, सब जान जायँ कि इससे आशनाई थी नहीं तो 'अनचिन्हार' (जिसे वह जानती नहीं, जिससे कोई ताल्लुक नहीं) उसके लिये क्यों रोती? इसी प्रकार रामराज्य सुनकर यदि कैकेयी व्यथा करे तो राजा पकड़ लें कि यह कपट करती है *'भरे न परै'* (१) वे विश्वास न करें (२) अथवा, 'जैसे चोर नर होवे वैसे ही रानी चोर नारि (चोट्टी स्त्री) है, पतिसे कुछ काम नहीं। राजाका राज्य-सर्वस्व लेना चाहती है, रामको राज्य मिलना मानो सर्वस्वका उसके हाथसे निकल जाना है, यदि रानी रोवें तो राजा जान लें कि यह रामराज्यके विरुद्ध है, राज्य छीनेगी तब सर्वस्व जाता रहेगा।' (खर्रा)

४—बाबा हरीदासजी—दूतिकाके फन्देमें पड़कर किसी स्त्रीका पर पुरुषसे प्रेम-सम्बन्ध हो जानेपर यदि पति-पुत्र, परिवारको मालूम हो गया, ग्राममें उसका शोर मच गया तो पति-पुत्र आदि सभी उसे छोड़ देते हैं; इसी भयसे वह गुप्त रोती है, प्रकट नहीं। साथ ही इसके पीछे खुल जानेपर उसका उपनायक भी उसे छोड़ देता है तब वह रोती है। जबतक उसने न छोड़ा तबतक वह मन-ही-मन रोती है, यह दृष्टान्त है। अब दार्ष्टान्त सुनिये। कैकेयीकी मति *'चोर नारि'* है, मन्थराकी मति दूतिका (कुटनी) है। राजासे चुराकर अर्थात् उनका मत छोड़ कुमतरूपी परपुरुषसे उसका सम्बन्ध दूतिकाने कराया। यह चर्चा नगरमें फैली। तब भरत और राजा, पुत्र और पति, दोनोंहीने उसको त्याग दिया; पीछे फिर कुमत भी उसे छोड़ अलग हो गया। तब कैकेयी रोयी, यथा—*'अवनि जमहिं जाँचति कैकेई। महि न बीचु बिधि मीचु न देई॥'* (२५२। ६) *'गरइ गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहइ केहि दूषन देई॥'* (२७३। १)

'चोरकी स्त्री' ऐसा अर्थ करनेमें यह विरोध होता है कि चोर नारि और चोरका मत एक ही होता है और यहाँ राजा-रानीका मत दो (पृथक्-पृथक्) है। पुनः जो चोरकी स्त्री ही चोरको मारे तो रोना कैसे बने? यहाँ दृष्टान्तमें राजा चोररूप हैं और कैकेयी चोर नारिरूप है; वही राजाको मारती है; यथा—*'लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवन लेइहि मोरा।'*—तो रानीका रोना कैसे बने?

५—श्रीनंगे परमहंसजी—कैकेयीने हँसकर ऐसी असह्य पीड़ाको किस भाँति छिपा दिया, जैसे चोर स्त्री अपने पतिसे चोरी करके परपतिपर आसक्त होकर उससे सुख भोगना चाहती हो, परन्तु किसी कारणवश उसकी मृत्यु हो जाय तो उसके नष्ट हो जानेका समाचार सुनकर वह भीतर-ही-भीतर दुःखी होकर रोवे, कारण कि उसका रोना प्रकट हो जानेसे उसकी चोरी खुल जायगी। वैसे ही कैकेयी अपने पतिदेव राजा

---

* यही भाव श्रीबैजनाथजी, काष्ठजिह्वास्वामी, बाबा हरिहरप्रसादजी आदि कई महानुभावोंने लिखा है 'अर्थात् चोर-नारि'=पतिवञ्चक स्त्री, जो जारपति-(पर-पुरुष-)से प्रीति करे, कुलटा। अयोध्याविन्दुमें काष्ठजिह्वास्वामीजी लिखते हैं—'चोर नारि व्यभिचारिन नारि। जो पर पुरुषहिं भजु चोरीसे अपनी तोप विचारि॥ जार पुरुषके दुखसे वाको लगत मनहुँ तरवारि। देवरसे हँसि पीर छपावत रानी तेहि अनुहारि।'

दशरथसे वञ्चकता करके राजवैभवपर प्रेमासक्त होकर उसीकी प्राप्तिसे सुख उठाना चाहती है। जब राजाने यह कहा कि *'रामहि देउँ कालि जुवराजू। सजहि सुलोचनि मंगल साजू।'* तब कैकेयीका हृदय दलक उठा। कारण कि अभीष्ट नष्ट हो जानेका समाचार श्रवणमें पड़नेसे उसने महान् पीड़ा उत्पन्न कर दी। अतएव उसने उस पीड़ाको छिपा लिया जिससे *'लखी न भूप कपट चतुराई।'*

'चोर नारि' का 'चोरकी स्त्री' अर्थ करना असङ्गत है। क्योंकि ऐसा कहनेसे राजा दशरथ चोरकी उपमामें आ जाते हैं। पहले तो यह अयोग्य है कि कपट तो कैकेयी कर रही है कि मेरी चोरी राजाको प्रकट न हो और चोर राजाको बना देना, जो निष्कपट सरल हृदयसे स्वयं रामजीको युवराजपद देनेका समाचार दे रहे हैं। दूसरे चोरके पकड़े या मारे जानेपर चोरकी स्त्रीको प्रकट न रोनेका मिलान भी यहाँ कदापि मेल नहीं खाता, क्योंकि दशरथके लिये किसी दुःखके कारण कैकेयीको पीड़ा होना नहीं कहा जा रहा है। तीसरे चोरकी स्त्रीको गैरसे प्रेम प्रकट होनेमें भय बताया जा रहा है। परन्तु अपने पति चोरसे वह क्या छिपायेगी और यहाँ कैकेयी पतिसे ही पीड़ा छिपा रही है।

६—पाँड़ेजीने दोनों अर्थ दिये हैं—चोरकी स्त्री; जो चोरीसे दूसरेकी स्त्री बन गयी हो।

७—पं० रामकुमारजी, बिनायकराव आदि कुछ महानुभावोंने 'चोरकी स्त्री' ऐसा अर्थ किया है। चोरकी स्त्री अपने और अपने परिवारके पकड़ जानेके भयसे प्रकट नहीं रोती। इसपर दूसरे संदेह करते हैं कि जब चोर पकड़ ही गया तब उसकी स्त्री क्यों न रोवेगी? वह अवश्य उसके बचानेका प्रयत्न करेगी। और फिर *'चोर नारि'* का अर्थ 'चोर स्त्री' 'चोट्टी (चुरानेवाली) स्त्री करते हैं और उसपर यह दृष्टान्त देते हैं कि एक चोट्टी स्त्री कुतिया बनकर एक मुसाफिरकी चोरी करने गयी, वह जाग पड़ा और कुतियाको लाठी मारी जो उसको लगी। वह चोटसे मन-ही-मन व्यथा सहती है, पर प्रकट नहीं रोयी कि कहीं मुसाफिर जान न जायँ। (रा० प्र० से उद्धृत)

विनायकी-टीकाकार 'चोरकी स्त्री' इस अर्थका निर्वाह यों करते हैं कि 'जब कभी वज्र चोर सेंध लगाकर किसी धनवान्‌के घर दबे पाँव घुसते पकड़ जाता है तो उसके साथी, यदि उसको छुड़ानेमें सफल न हुए तो उसका सिर काट लेते हैं, जिसमें पता न लगे कि वह और उसके साथी कौन थे। उसकी स्त्री यह समाचार पाकर दुःखके कारण मन-ही-मन रोती है, प्रकट नहीं रो सकती, क्योंकि प्रकट रोनेसे भेद खुल जायगा।

लखहिं* न भूप कपट चतुराई। कोटि कुटिलमनि गुरू पढ़ाई॥६॥
जद्यपि नीति निपुन नरनाहू। नारि चरित जलनिधि अवगाहू॥७॥
कपट सनेहु बढ़ाइ बहोरी। बोली बिहँसि नयन मुँह मोरी॥८॥

शब्दार्थ—'**कुटिलमनि**'=कुटिलोंमें शिरोमणि, सिरताज वा श्रेष्ठ। **निपुन** (निपुण)=प्रवीण, कुशल। **जल-निधि**=जलका खजाना, समुद्र। '**अवगाह**'=अथाह, अगाध, बहुत गहरा। **मुँह मोरी**=मुँह मोड़कर, नखरेसे मुँह टेढ़ा करके, मुँह बनाकर, मटकाकर। *'सनेहु बढ़ाई'* अर्थात् स्नेहकी चेष्टा दर्शाकर। *'नयन मुँह मोरी'* अर्थात् नेत्रोंसे कटाक्ष करके नाज-नखरेके साथ, विलास हाव-भाव दिखा तिर्छी चितवन करके।

अर्थ—राजा उसकी कपटपूर्ण चतुराईको नहीं भाँप सकते (क्योंकि) वह करोड़ों कुटिलोंकी सिरताज (मन्थरा ऐसी) गुरुकी पढ़ायी-सिखायी हुई है॥६॥ यद्यपि राजा नीतिमें निपुण हैं फिर भी स्त्री-चरित्र अथाह समुद्र है॥७॥ फिर कपटपूर्ण (झूठा) स्नेह अधिक दिखाकर, नेत्र और मुँह मोड़कर हँसती हुई वह पुनः बोली॥८॥

नोट—कैकेयीके कपटपूर्ण चातुर्य्यको राजा न भाँप सके। इसपर कवि कहते हैं कि वे कैसे लख पाते? क्या आप नहीं जानते कि वह कैसे उस्तादकी पढ़ायी हुई है ? इसका गुरु करोड़ों कुटिलोंका सिरताज है, जो तन, मन, भीतर-बाहर, दोनोंसे कुटिल है, कोई साधारण गुरु नहीं है। यदि कहो कि

* लखी—पाठान्तर।

नीतिज्ञसे कपट नहीं छिप सकता, राजा उसकी चालोंमें कैसे आ गये? तो उसपर कहते हैं कि स्त्री-चरित्र भी तो अथाह समुद्र है, इसकी थाह कौन पा सकता है, बड़े-बड़े इसमें गोता खाते हैं। जैसा कहा है—**'स्त्रीचरित्रं पुरुषस्य भाग्यं दैवो न जानाति कुतो मनुष्यः'** अर्थात् देवता भी नहीं जान सकते, फिर मनुष्य किस लेखेमें हैं। यहाँ 'काव्यलिङ्ग अलङ्कार' है।

टिप्पणी—१ ***'लखहिं न भूप कपट चतुराई।'''''*** इति। ***'कपट चतुराई'*** कहा क्योंकि भीतर कुछ है, बाहर कुछ, भीतर पीड़ा है, बाहर हँसी। ***'लखहिं न'*** कथनका भाव कि इस कपट-चतुराईका लखना सम्भव था, क्योंकि जिन-जिनने रामतिलक सुना वे सब प्रसन्न हुए और मङ्गल सजाने लगे, यथा—***'मंत्री मुदित सुनत प्रिय बानी', 'तेहि अवसर मंगल परम सुनि रहसेउ रनिवास', 'प्रेम पुलकि तनमन अनुरागीं। मंगलसाज सजन सब लागीं॥', 'रामराज अभिषेक सुनि हिय हरषे नरनारि। लगे सुमंगल सजन सब बिधि अनुकूल बिचारि॥'*** परंतु कैकेयीने रामराज्य सुनकर भी उसकी चर्चा न की, न राजाको धन्यवाद ही दिया और न मङ्गलसाज सजानेको उठी। इन सब लक्षणोंसे राजाको लख लेना चाहिये था, पर वे न लख पाये। क्यों न लखा? इसका कारण उत्तरार्द्धमें देते हैं कि ***'कोटि कुटिलमनि'''*** अर्थात् यह कपट-चतुराई रानीको न आती थी, मन्थराके सिखानेसे आयी है। जो कोटि कुटिलोंकी शिरोमणि है, ऐसी गुरु मन्थराकी पढ़ायी है, यथा—***'कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू।'***

[पुनः, भूपने न लख पाया, क्योंकि (१)—भू (पृथ्वी) जड़ है उसके पति हैं वे कपट-चतुराई क्या जानें? (२) रानी कपटमें चतुर है। उसे पक्का गुरु मिला है जो करोड़ों कुटिल मति (कुचालों)-में निपुण है। जैसे लोग परिश्रम करके वेदशास्त्र पढ़ते-पढ़ाते हैं वैसे ही इसने कुटिलपना पढ़ा है, उसका अच्छी तरह अभ्यास किया है। हालकी ही पढ़ी विद्या है, फिर कोई क्या लख सके? क्या पढ़ाया है? यह कि ***'काज सँवारेहु सजग होइ सहसा जनि पतियाहु।'*** —(पण्डितजी)]

टिप्पणी—२ ***'जद्यपि नीति निपुन नरनाहू।'''*** इति। राजा कैकेयीकी कपट-चतुराई लख न सके इससे राजापर अज्ञानका दोष लगता है; अतः कहते हैं कि राजा नीतिमें निपुण हैं, पर स्त्रीचरित ऐसा ही अथाह है कि उसकी थाह कोई नहीं पा सकता। ***'कपट चतुराई'*** स्त्रीचरित है।

प० प० प्र०—***'नरनाहू'*** का भाव कि जो सामान्य नरोंके समान होगा वह नरनाथ होनेपर नारि-चरित जलनिधिकी थाह नहीं पा सकेगा।

टिप्पणी—३ ***'कपट सनेहु बढ़ाइ'''*** इति। स्नेहसे कपट दिखानेभरका है; हृदयमें नहीं है, स्नेह बढ़ाया जिसमें राजा प्रसन्न होकर वर दे दें। इसके तन-मन-वचन तीनोंमें कपट भरा है—'कपट-सनेह बढ़ाना' मनका कपट है, ***'बोली बिहँसि'*** यह वचनका कपट है और ***'नयन मुँह मोरी'*** यह तनका कपट है।

टिप्पणी—४ इस प्रसङ्गमें कैकेयीका विहँसना कई बार लिखा है—***'यह सुनि मन गुनि सपथ बड़ि बिहँसि उठी मति मंद', 'ऐसिउ पीर बिहँसि तेहि गोई', 'बोली बिहँसि नयन मुँह मोरी', 'बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली।'*** तात्पर्य यह कि हँस-हँसकर इसने राजाका मन हर लिया, इस प्रकार अपना कार्य सिद्ध किया।

दो०—माँगु माँगु पै कहहु पिय कबहुँ न देहु न लेहु।
देन कहेहु बरदान दुइ तेउ पावत संदेहु॥ २७॥

शब्दार्थ—**देहु न लेहु**=देते-लेते नहीं—यह मुहावरा है* पै=निश्चय, अवश्य, जरूर ही, यथा—***'सुख पैहैं कान कहे बतियाँ कल आपुसमें कछु पै कहिहैं।'***=पर, परन्तु। **कबहुँ न**=कभी भी, यथा—***'नाहिंन राम राजके भूखे।'*** (५०। ३) में 'नाहिंन'=नहीं ही।

---

* इसका अर्थ किसी-किसीने यह किया है—'कभी ऐसा कहकर नहीं देते कि लो न' (हम तो देते हैं)। पं० रामकुमारजी एक भाव यह कहते हैं कि ''न वर देते न यश लेते हो। वर देनेमें यश है और न देनेमें अपयश। यथा— 'देन कहेउ अब जनि बर देहू। तजहु सत्य जग अपजस लेहू'॥''

अर्थ—हे प्रियतम! आप 'माँगो, माँगो' यह तो जरूर कहा ही करते हैं, पर देते-लेते कभी कुछ नहीं। आपने दो वर देनेको कहा था, उनके भी पानेमें (मुझे) संदेह है॥ २७॥

टिप्पणी—१ *'तेउ पावत संदेहु'* इति। (क) जैसा कैकेयीके हृदयमें है वैसा ही मुखसे निकल रहा है। भरतका राज्य और रामका वनवास माँगनेकी वासना हृदयमें है, इनके पानेमें सन्देह है, वही वह मुखसे कह रही है। राजाने कहा था—*'बिहँसि माँगु मन भावति बाता'* इसीपर वह ऐसा कह रही है। (ख) पुनः, *'तेउ पावत संदेहु'* का भाव कि किसी प्रकार मेरे ऐसा कहनेपर राजा अपने मुखसे कह दें कि इसमें कुछ सन्देह नहीं है, सन्देह न करो, तुम वर माँगो, हम अवश्य देंगे। पुनः [(ग) सन्देह है सो ठीक ही है। देखिये एक वर आखिर अच्छी तरह राजी-खुशीसे नहीं ही दिया—राम-वनवास। श्रीरामजी अपनी जोरावरीसे चले गये। कैकेयी यह जानती है कि साठ हजार वर्षमें जो सुकृत किये वे भले ही नष्ट हो जायँ, सुयश जाता रहे, पर राजा रामजीको वन जानेको न कहेंगे; यथा—*'अजस होउ जग सुजस नसाऊ। नरक परउँ बरु सुरपुर जाऊ॥ सब दुख दुसह सहावहु मोहीं। लोचन ओट राम जनि होहीं॥'* (४५। १-२), *'नृपहिं प्रानप्रिय तुम्ह रघुबीरा। सील सनेह न छाड़िहि भीरा॥ सुकृत सुजस परलोक नसाऊ। तुम्हहिं जान बन कहिहि न काऊ। अस बिचारि सोइ करहु जो भावा।'*.... *'राम तुरत मुनिबेषु बनाई। चले जनक जननिहि सिरु नाई॥'* (७९। ३। ८) अतएव पानेमें सन्देह बताती है।]

जानेउँ मरम राउ हँसि कहई। तुम्हहि कोहाब परम प्रिय अहई॥ १॥
थाती राखि न माँगिहु काऊ। बिसरि गयउ मोहि भोर सुभाऊ॥ २॥
झूठेहुँ हमहि दोष जनि देहू। दुइ कै चारि माँगि मकु* लेहू॥ ३॥
रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचनु न जाई॥ ४॥

शब्दार्थ—मरम (मर्म)=भेद, अभिप्राय, मतलब। **कोहाब** (कोह=क्रोध)=रूठना, मान करना। **अहई**=है। **कै**=के बदले, के। **मकु**=चाहे, भले ही, बल्कि, यथा—*'तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई। गगन मगन मकु मेघहि मिलई॥'*...*'मसक फूक मकु मेरु उड़ाई।'* (२३२। १—३) **बिसरि गयउ**=भूल गया, याद न रही। **झूठेहुँ**=झूठमूठ, झूठे ही। **बरु**=भले ही, चाहे, ऐसा हो जाय कुछ हर्ज नहीं, यह उत्तम है, यथा—*'बरु तीर मारहिं लषन पै'*..., *'सहज छमा बरु छाड़ै छोनी॥'* (२३२। २)

अर्थ—राजा हँसकर कहने लगे—अब मैं तुम्हारा मतलब समझा! मान करना तुम्हें अत्यन्त प्रिय है। (तुम मान करानेके लिये रूठा करती हो, जिसमें हम तुम्हें मनावें।)॥ १॥ थाती (धरोहर) रखकर तुमने कभी माँगा ही नहीं। भोला-भाला भुलक्कड़ स्वभाव होनेके कारण मुझे भूल गया॥ २॥ मुझे झूठे ही दोष न दो, चाहे दोके बदले चार (क्यों न) माँग लो॥ ३॥ रघुकुलकी सदासे रीति चली आ रही है कि प्राण भले ही चले जायँ, पर वचन नहीं टल सकता। अर्थात् रघुवंशी प्रतिज्ञासे विचलित नहीं होते, झूठे नहीं होते, झूठे नहीं पड़ सकते, कहे हुएसे फिर नहीं सकते† ॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'जानेउँ मरम राउ हँसि कहई'* इति। कोहाना परम प्रिय है इसीसे रिसानी हो, नहीं तो जब तुम्हारी थाती हमारे यहाँ थी ही तो जब चाहतीं माँग लेतीं, इसमें रिसानेका कौन काम था? राजा हँसे इससे कि रानी कुपित हैं, पर कुपित होनेका हेतु कुछ भी नहीं। (कोहाब परमप्रिय है इस कथनसे सूचित होता है कि पहले भी कई बार मान कर चुकी हैं। राजा सरलस्वभाव हैं, जानते हैं कि वैसे ही इस बार भी रूठी होगी। नहीं तो चार बर देनेको कैसे कह सकते, एकहीके देनेमें तो अनर्थ है।)

---

* राजापुर और काशिराज एवं भागवतदासजीमें यही पाठ है। ना० प्र० की प्रतिमें 'किन' है।

† चलेद्धि मेरुर्विचलेच्च मन्दरश्चलन्तु तारा रविरेष चन्द्रमाः।
कदापि काले पृथिवी च संचलेच्चलेन्न धर्मात् पुरुषस्य यद् वचः॥

टिप्पणी—२ *'थाती राखि न माँगेहु काऊ।'''* इति। (क) (थाती रखकर फिर कभी माँगा ही नहीं और सन्देह करने लगीं। भला कोई परायी थाती भी माँगनेपर रख छोड़ता है? कदापि नहीं। माँगतीं तो तुरत मिल जाता। पुनः भाव कि) तुमने माँगा ही नहीं, क्योंकि तुम्हें रूठना परमप्रिय है, यदि माँग लेतीं तो फिर रिसातीं किस बहाने? *'बिसरि गयउ'''*—उधरकी कहकर तब राजा अपनी बात कहने लगे कि मेरा भोर स्वभाव है, इससे मुझे याद न रहा [*'मोहि भोर सुभाऊ'* अर्थात् हम जानकर वचनका त्याग कभी नहीं करते। (पंजाबीजी) भुलने स्वभावका भूलना कारणके समान कार्यका वर्णन 'द्वितीय सम अलङ्कार' है]।

टिप्पणी—३ *'झूठेहुँ हमहिं दोष जनि देहू'''* इति। अर्थात् तुमने जो कहा कि *'माँगु माँगु पै कहहु पिय कबहुँ न देहु न लेहु'* यह झूठ ही हमें दोष लगाती हो, चाहे दोके चार माँग लो मैं दे दूँगा—दो वर तो तुम्हारे हैं ही, दो हमारी ओरसे लो, ये दो हम अपनी भूलके बदले, उनके कसूरमें देते हैं। झूठ बोलना दोष है, यथा—*'नहिं असत्य सम पातक पुंजा।'* अतः कहते हैं कि यह दोष हमें झूठे भी न दो, हमें झूठा न कहो, क्योंकि झूठा बनानेसे हमारे कुलको और हमें कलंक लगता है, रघुकुलमें कोई झूठ नहीं बोलता। तुमने माँगा नहीं और हम भूल गये। इससे हम झूठे नहीं हो सकते, हमारा दोष इसमें कुछ नहीं।

टिप्पणी—४ *'रघुकुल रीति सदा चलि आई।'''''* इति। अर्थात् यह रघुकुलकी रीति है, रघुकुल सत्यवादी है। **'रीति'** का भाव कि यदि कुलमें कोई एक सत्यवादी हुआ तो उससे कुलकी रीति नहीं कही जा सकती। इस कुलमें 'सदा'से यह रीति चली आयी है; अर्थात् जबसे रघुकुल उत्पन्न हुआ तबसे इस कुलमें बराबर सत्यका निर्वाह चला आ रहा है, सब सत्यवादी होते आये। सत्यका सदा चलता आना कठिन है पर रघुवंशी सदा सत्य बोलते हैं, अतएव कहा कि *'रघुकुल रीति सदा चलि आई।'* तात्पर्य कि हम रघुवंशी हैं, हम देनेको कहके फिर कैसे न देंगे? राजा भवितव्यताके वश धर्म-पाशमें फँसे और अपने वचनको पुष्ट करते हैं। *'प्रान जाहु बरु बचन न जाई'* तात्पर्य कि वचन प्राणसे अधिक प्रिय है। (भाव यह कि अपने वचनके लिये प्राण भी दे सकता हूँ)। वचन न टलनेका कारण आगे कहते हैं कि**'नहिं** *असत्य सम'''।'*

नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा॥५॥
सत्य मूल सब सुकृत सुहाये। बेद पुरान बिदित मनु गाये॥६॥
तेहि पर राम-सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई॥७।

शब्दार्थ—**पातकपुंजा**=पापसमूह, बहुत-से पाप जो मिलकर एक बनें (उनका मजमूआ)। **गुंजा**=घुँघची। इसकी जड़ मुलेठी है। यह एक मोटी बेल है, जो प्रायः जंगलोंमें पहाड़ियोंपर फैली हुई पायी जाती है। इसमें इमलीकी-सी पत्ती, सेमके-से फूल और मटरकी-सी फली होती है। जाड़ेमें कलियाँ सूखकर फट जाती हैं, उनके भीतर लाल-लाल बीजें निकलते हैं। जिनके मुँहपर छोटा काला छींटा रहता है। इसी बीजको गुंजा कहते है। रत्तीभर वस्तुके तोलनेमें सराफ इसे काममें लाते हैं। **करि आई**=कर पड़ा, करना पड़ा, कर चुका, कर आया, करते ही बनी (क्योंकि तू और तरह प्रसन्न न हुई) जब और सब तरह मनानेमें सफल न हुआ; की जा चुकी।

अर्थ—असत्यके समान पापोंका समूह भी नहीं। क्या करोड़ों घुँघचियाँ (मिलकर भी) पर्वतके समान हो सकती हैं॥५॥ सत्य ही समस्त उत्तम सुन्दर सुकृतोंकी जड़ है (पुनः, सत्यमूलक होनेसे ही सब सुकृत सुहावने माने गये हैं)* यह बात वेदों तथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है (वर्णित है) और मनुजीने (मनुस्मृतिमें ऐसा ही) कहा है॥ ६॥ इतनेपर भी मैं रामचन्द्रजीकी शपथ कर पड़ा हूँ (कि जो) रघुराई रामचन्द्र सुकृत और स्नेहकी सीमा हैं॥ ७॥

* 'सुहाये' क्रिया और विशेषण दोनोंका काम यहाँ कर रहा है। जब सत्य उनका मूल हुआ तभी वे सुहावने हुए। बिना सत्यके वे सुहावने नहीं हो सकते; पुनः, सुकृत सुहाये=जितने उत्तम सुकृत हैं।

नोट—१ *'नहिं असत्य सम पातक पुंजा।…'* इति। अर्थात् करोड़ों गुंजे मिलकर रखे जायँ तो भी पर्वतके समान ऊँचे नहीं हो सकते। पुनः, करोड़ों गुंजोंसे पर्वतको तोला चाहें तो कहीं तुल सकता है? गुंजा आखिर रत्ती ही तो है। सेर, ढका (तीन सेरका बाट), पसेरीके समान तो वह हो ही नहीं सकता तब भला पहाड़के समान कैसे हो सकेगा? जहाँ मनोंकी भी गति नहीं वहाँ रत्ती-रत्ती किस खातेमें हैं? इसी तरह समस्त पापोंको एकत्रकर एक पलरेमें रखें और केवल असत्य यही एक पाप दूसरेमें रखें तो वे सब मिलकर भी इस एकके बराबर नहीं हो सकते। असत्य पर्वतके समान है और अन्य समस्त पाप इसके सामने रत्तीके समान हैं। दोनोंमें कितना बड़ा अन्तर है।

नोट—२ असत्यमें क्या कला है जो वह इतना बड़ा है? उत्तर—आत्मा सत्-रूप है सो असत्-रूप हुआ; इस झूठमें यह छल है। इस झूठमें आत्माका चुराना है जो मारनेके बराबर है। भाव यह कि और पाप स्वरूपके नाशक नहीं हैं और यह उसका नाशक है। (रा० प०)

टिप्पणी—१ *'नहिं असत्य…'* इति। भाव कि गुंजा रत्ती है, वह रत्तीहीके बराबर हो सकता है। रत्तीसे कहीं पहाड़ तोला जाता है? वैसे ही असत्यके सामने सब पाप रत्तीके समान हैं। *'गिरि सम'*—राजाओंके यहाँ हजारों मन मोती होता है, पहाड़भर मोती किसीके यहाँ नहीं होता; इसीसे पर्वतके समान कहा। (यहाँ 'दृष्टान्त अलङ्कार' है। वक्रोक्ति भी अङ्गाङ्गी भावसे आया है।)

टिप्पणी—२ *'सत्य मूल सब सुकृत सुहाये।…'* इति। [(क) असत्य समस्त पापोंके समूहसे भी बड़ा पाप है, यह कहकर अब सत्यका महत्त्व कहते हैं] *'मूल'* कहनेका भाव कि सत्य समस्त धर्मोंसे बड़ा है, (यह मूल है और सब धर्म वृक्ष, शाखा, पल्लव, फूल, फल आदि हैं। जबतक यह बना रहता है तबतक सब होते रहते हैं, सबकी स्थिति इसीपर निर्भर है), इसके नाशसे समस्त सुकृतोंका नाश हो जाता है। (जड़ ही न रहेगी तब वृक्ष ही कैसे रह सकता है, वह गिर ही पड़ेगा। यथा—*'सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ।'* १। २५२। ५) (ख) *'सुहाये'*—भाव कि सत्य इन सबका मूल है। वह सबका मूल है, इसीसे सब सुकृत 'सुहाये' हो गये हैं। अथवा सुकृत सभी सुन्दर हैं, उन सबोंका मूल सत्य है। इससे जनाया कि सत्य समस्त सुकृतोंसे सुन्दर है। [अथवा समस्त सुन्दर सुकृतोंका मूल कहकर जनाया कि कुछ पुण्य 'असुहाये' भी होते हैं। जो दान-पुण्य आदि नामके लिये या किसी स्वार्थके लिये किये जाते हैं वे 'सुहाये' नहीं हैं। वीरकविजीका मत है कि यहाँ समस्त सुहावने सुकृतोंकी समता एक सत्यमें लाना 'तृतीय तुल्ययोगिता अलङ्कार' है] (ग) *'मनु गाये'*—वेद-पुराण कहकर 'मनु गाये' शब्द देनेसे स्मृति सूचित किये। सब स्मृतियोंसे मनुस्मृति श्रेष्ठ है, इसीसे मनुजीका प्रमाण दिया। (*'बेद पुरान बिदित मनु गाये'* में 'शब्द प्रमाण अलङ्कार' है।)

नोट—३ प० पु० सृष्टिखण्डमें सत्यकी '**उक्त्वानृतं भवेद् यत्र प्राणिनां प्राणरक्षणम्। अनृतं तत्र सत्यं स्यात् सत्यमप्यनृतं भवेत्॥**' (१८। ३९२) अर्थात् जहाँ असत्य बोलनेसे प्राणियोंकी प्राणरक्षा होती हो वहाँ वह असत्य भी सत्य है और सत्य भी असत्य है—इसके उत्तरमें नन्दाने सत्यकी महिमा कहते हुए कहा है कि स्वर्ग, मोक्ष तथा धर्म ये सब सत्यमें ही प्रतिष्ठित हैं। जो अपने वचनका लोप करता है, उसने मानो सबका लोप कर दिया, यथा—'**स्वर्गो मोक्षस्तथा धर्मः सर्वे वाचि प्रतिष्ठिताः। यस्तां लोपयते वाचमशेषं तेन लोपितम्॥**' (३१९) सहस्रों अश्वमेध यज्ञ भी सत्य भाषणकी समताको नहीं पहुँच सकते। सत्य ही उत्तम तप है, सत्य ही उत्कृष्ट शास्त्रज्ञान है। सत्यहीसे साधुपुरुषोंकी परख होती है। वही सत्पुरुषोंकी वंशपरम्परागत सम्पत्ति है। सत्यका ही आश्रय सम्पूर्ण आश्रयोंसे श्रेष्ठ माना गया है। यथा—'**साधूनां निकषं सतां कुलधनं सर्वाश्रयाणां वरम्॥**' (४०३) यह सब भाव *'सत्य मूल सब सुकृत सुहाये'* में हैं।

टिप्पणी—३ *'तेहि पर राम-सपथ करि आई…'* इति। (क) तात्पर्य कि रामकी शपथ हम कभी नहीं करते, अकस्मात् ही वह मुँहसे निकल आयी। रघुनाथजी हमारे सुकृत और स्नेहकी अवधि हैं, हमारा सुकृत यहींतक है, हमारा स्नेह यहींतक है। (ख) प्रथम असत्यकी बड़ाई कही कि *'नहिं असत्य सम पातक पुंजा'*, फिर सत्यकी बड़ाई की कि *'सत्यमूल सब सुकृत सुहाये।'* अब रामशपथकी बड़ाई करते

हैं कि *'तापर राम सपथ''रघुराई।'* इस तरह तीनोंकी उत्तरोत्तर बड़ाई की (उत्कृष्टता दिखायी)—असत्यसे बड़ा सत्य है, सत्यसे बड़ा रामशपथ है; रामजीके लिये सब धर्म त्याग दिये जाते हैं, यथा—'**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**' (गीता १८। ६६)

नोट—४ '**तेहि पर**' से जनाते हैं कि यह सबसे उत्कृष्ट है सो इस शपथको भी हम कर पड़े। सब सुकृत करनेपर तब कहीं स्नेह होता है, यथा—*'सकल सुकृत फल राम सनेहू।'* (१। २७। २) उस स्नेहकी अवधि रघुराई हैं अर्थात् अत्यन्त प्रेमसे ही श्रीरामजीकी प्राप्ति होती है। श्रीरामप्रेमके आगे फिर कोई प्रेम नहीं। जैसे नदियोंकी अवधि समुद्र वैसे ही सुकृत और स्नेह रामजीहीतक हैं, आगे नहीं। जैसे किसानीके कामसे अन्नकी सिद्धि होनेपर फिर कोई थालीमें दाल-भात-रोटी आनेपर खाद नहीं डालता वैसे ही सब सुकृत करके राजा रामजीको प्राप्त कर चुके। वे रामजीको भलीभाँति पहचानते हैं, यथा—*'जाकर नाम सुनत सुभ होई। मोरे गृह आवा प्रभु सोई॥'* (१। १९३। ५) अब उन्हें सुकृत करनेकी आवश्यकता न रह गयी। बालकाण्डमें कहा भी है कि *'दसरथ सुकृत राम धरे देही।'* (१। ३१०। १) (खर्रा)

पंजाबीजी—भाव यह है कि रघुवंशी असत्य नहीं बोलते, यह कुलरीति है। वे वेदवाक्य और मनुवाक्यका उल्लङ्घन नहीं करते। अतः तुमको शङ्का न करनी थी, तिसपर भी मैंने सुकृत और स्नेहकी सीमाकी शपथ खायी है अर्थात् जो उनकी (झूठी) सौगन्ध खाये उसके तो समस्त सुकृतोंका ही नाश हो जायगा।

बात दृढ़ाइ* कुमति हँसि बोली। कुमत कुबिहग कुलह जनु खोली॥ ८॥

दो०—भूप मनोरथ सुभग बनु सुख सुबिहंग समाजु।
भिल्लिनि जिमि छाड़न चहति बचन भयंकरु बाजु॥ २८॥

शब्दार्थ—**दृढ़ाई**=दृढ़ (पक्की) करके। **कुमत**=कुविचार, बुरा मन्तव्य, कुमन्त्रणा, दुर्बुद्धि। **कुबिहंग**=बुरा पक्षी, बाज, जुर्रा। **कुलह**=यह फारसी 'कुलाह' शब्द है। =टोपी। 'कुलह' प्रायः खारुआ वस्त्र या चमड़ेकी टोपी वा ढक्कन जो शिकारी चिड़ियोंकी आँखोंपर पहिनाया रहता है; क्योंकि यदि आँख ढकी न रही तो वह जिसी चिड़ियाको (अपने शिकारको) देखेगा उसीपर झपटेगा। बाजको शिकारी प्रायः अपने हाथपर, टोपी लगाये हुए बिठाये रहते हैं, जब किसी पक्षीका शिकार कराना चाहते हैं तब टोपी खोल देते हैं। वह देखते ही सीधा झपटता है। टोपी लगी रहनेपर वह दबका रहता है, यथा—*'बगुला झपटत बाज पै बाज रहै सिर नाय। कुलहा दीन्हें पग बँधे खोंटे दे फहराय'*—(समाविलास, गिरिधर कविराय)। इस टोपीको कुलहा, अँधियारी और ढोका भी कहते हैं। '**सुबिहंग**'=सुन्दर पक्षी जैसे-शुक, सारिका, कोकिल, कबूतर आदि। **भिल्लिनि**=भीलनी=भीलकी स्त्री। इस जातिके लोग बड़े क्रूर, भीषण और अत्याचारी होते हैं, प्रायः व्याधाका काम करते हैं। ये तीर चलाने और शिकार करनेमें बड़े निपुण होते हैं। अतएव कठोर हृदयवाले, व्याधा या शिकारी आदिके अर्थमें इसका प्रयोग किया जाता है। **बाज**=यह चीलसे छोटा, पर अधिक भयंकर होता है। इसका रंग मटमैला, पीठ काली और आँखें लाल होती हैं। '**सुभग**' अर्थात् हरा-भरा, फूला-फला हुआ।

अर्थ—बात पक्की कराके दुर्बुद्धि कैकेयी हँसकर बोली मानो कुमतरूपी बाजकी टोपी खोल दी॥ ८॥ राजाका मनोरथ सुन्दर वन है। सुख सुन्दर पक्षियोंका झुंड है उसपर भीलनी-जैसी कैकेयी अपना वचनरूपी भयङ्कर बाज छोड़ना चाहती है॥ २८॥

नोट—१ *'कुमति कुबिहग कुलह'''* इति। यहाँ रूपकसे पुष्ट उत्प्रेक्षा की गयी है। कुविचारका वचन बाज है। कपट कुलाह है जो इस वचन-बाजको छिपाये हुए था। बोलीका मुखसे बाहर निकलना कुलहका खोला जाना है। शिकार सम्मुख होनेपर टोपी खोली जाती है, राजासे रामशपथ कराके और उसको पुनः

* 'दिढ़ाई'—(छकनलालजी) अर्थ वही है।

उनसे पक्का कराके कि *'नहिं असत्य सम पातक पुंजा'* और उसपर भी मैं रामशपथ कर चुका, राजाको प्रतिज्ञा-बद्ध करा लेना शिकारका सामने आना है। टोपी हटते ही बाज शिकारपर झपटकर उसे पकड़ लेता है। ठीक वैसी ही दशा राजाकी, इन वचनोंसे होगी। वे आहत होंगे, इन वचनोंमें वे बँध या फँस गये, अब वे निकल नहीं सकते।

नोट—२ दोहेमें पुनः रूपकसे पुष्ट उत्प्रेक्षा है। राजाका मनोरथ सुन्दर हरा-भरा वन है। राम युवराज हों इस मनोरथसे पिता-माताओं, परिवार-परिजन, मन्त्रियों, पुरवासियों, देश-देशान्तरके राजाओं, दास-दासियों इत्यादि अमित लोगोंको जो सुख हो रहा है वही वनके अच्छे-अच्छे पक्षियोंका समुदाय है। बाज इन पक्षियोंपर टूट पड़ता है और इनका शिकार करता है। कैकेयीके वचन एकाएक राजापर पड़कर उनके और अन्य सबके भी सुखोंका नाश करेंगे।

टिप्पणी—१ *'बात दृढ़ाइ कुमति···'* इति। (क)—राजाने रामशपथ की, यही बातका दृढ़ होना है, यथा—*'भूपति राम सपथ जब करई। तब माँगेहु जेहि बचन न टरई॥'* अब वचन नहीं टल सकता, (जिस अवसरकी घातमें थी वह अब मिला। अतः वह कुमतिनि जिसने पहलेसे ही कुत्सित मति ठान रखी थी) *'हँसि बोली'* अर्थात् प्रसन्न होकर बोली। 'कुमत' मन्थराकी दी हुई कुत्सित मत है—*'सुतहि राज रामहि बनबासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू॥'* यही कुमत, वचनरूपी बाजका वस्त्र (टोपी) है। जैसे वस्त्रसे बाज ढाँपा रहता है वैसे ही दोनों वरदानरूपी वस्त्रसे वचन ढका रहा। कैकेयी वरदान मिलने (माँगने) का मौका ताकती रही, इसीसे जल्दी नहीं बोली। *'कुलह जनु खोली'* अर्थात् सुविहङ्गके समाजमें कुविहङ्गको छोड़ना चाहती है। जैसे वस्त्रसे बाज निकले वैसे ही कुमतसे वचन निकले। [पुनः, (ख) पण्डितजी—कुमत कुविहङ्ग है, पक्षीको देखकर उसकी हिंसा (शिकार) के लिये मानो बाजकी कुलही (आँखकी पट्टी) खुली। कुबुद्धि कैकेयी हँसकर बोली; उसपर उत्प्रेक्षा करते हैं कि वह हँसकर नहीं बोली, उसका होंठ नहीं फड़का, किंतु मानो हिंसाके लिये बाजकी कुलही खुली।] (नोट—पं० रा० कु० जीकी टिप्पणी और ऊपर दिये हुए नोटमें यह भेद है कि नोटमें कुमतको बाज और कैकेयीके कपटको कुलह कहा है और पं० रा० कु० जी कुमतको कुलह मानते हैं। नोटमें दिया हुआ भाव पाँड़ेजी और दीनजी आदिके मतसे मिलता है। (सम्पादक)

टिप्पणी—२ *'भूप मनोरथ सुभग बनु'* इति। (क) —*'सुभग बनु···'* कल्पवृक्षका वन है, यथा—*'मोर मनोरथ सुरतरु फूला।'* मनोरथ श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकका है; इसीसे उसे *'सुभग'* कहा। सुख सुविहङ्ग-समाज है। अर्थात् भूपके मनोरथमें सब लोग सुखी हैं। [वा, राजाको अपने मनोरथसे जो सुख हो रहा है वह सुविहङ्ग 'समाज' है। (नं० पं०) नोट—२ भी देखिये] बाज पक्षियोंका नाश करता है, कैकेयीके वचन सुखका नाश करेंगे। बाज दो पक्षयुत होते हैं, कैकेयीके वचन दो वर-युक्त हैं। (करुणासिंधुजी कहते हैं कि दोनों वरदान बाजके दोनों नेत्र हैं।)

सुनहु प्रानप्रिय* भावत जी का। देहु एक बर भरतहि टीका॥ १॥
माँगउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥ २॥
तापस बेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस रामु बनबासी॥ ३॥

शब्दार्थ—**टीका**=तिलक, राज्याभिषेक। **पुरवहु**=पूर्ण करो, पूरा कीजिये। **तापस बेष**=तपस्वियोंके वेष या बानेमें। **बिसेषि** (विशेष)=नियमसे, ढंगसे, तरह। **उदासी**=उदासीन, विरक्त, त्यागी, मुनियोंकी तरह, यथा—*'सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥'* (२१०। ३)

अर्थ—हे प्राणप्यारे! मेरे जीको भानेवाला वर सुनो। भरतको राज्यतिलक, एक तो यह वर दीजिये॥ १॥ दूसरा वर मैं हाथ जोड़कर माँगती हूँ। हे नाथ! मेरी अभिलाषा पूरी कीजिये॥ २॥ तपस्वी वेषमें खासकर उदासियोंकी रीतिसे (वा, विशेष उदासीन रहकर) राम चौदह वर्षतक वनमें निवास करें॥ ३॥

* 'प्रानपति'—(पं० रा० कु० जी)।

टिप्पणी—१ *'सुनहु प्रान प्रिय भावत जी का'* इति। (क) राजाने कैकेयीको प्राणप्रिया कहा; यथा—*'प्रान प्रिया केहि हेतु रिसानी।'* इसीसे वह भी प्राणपति ('प्रान-प्रिय') कहती है। पुन: भाव यह कि आप हमारे प्राणोंके पति हैं, अत: हमारा मनोरथ अवश्य पूरा करेंगे। अपना स्वार्थ साधनेके लिये उसने अत्यन्त प्रिय सम्बोधन किया। [*'प्रानप्रिय'* के अन्य कुछ भाव—(१) राजा वर देने और मनोरथ पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं, अत: प्राणोंके सदृश प्रिय कहा। (२) साधारणतया यह शब्द पतिके लिये स्त्रियाँ प्रयुक्त करती ही हैं। (३) वर माँगते हुए भी वह कपटपूर्ण स्नेह प्रकट कर रही है। (४) प्राणप्रियको *'भावत जीका'* विशेषण मान लें तो भाव होगा कि ये वर मुझे आपके प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं; क्योंकि इस समय इन वरदानोंके माँगनेसे यह निश्चय है कि वह राजाके प्राणोंकी भूखी है। पुन: भाव कि मुझे भी ये वर प्राणोंके समान प्रिय हैं जैसा मन्थराने पढ़ा रखा है—*'बचन मोर प्रिय मानहु जीते।'* वाल्मीकीयमें भी कहा है—**'एष मे परमः कामो'**॥' (२। ११। २८) अर्थात् यह मेरा सर्वश्रेष्ठ मनोरथ है। इत्यादि] (ख)—राजाने कहा, कि *'बिहँसि माँगु मन भावति बाता'* उसीपर कहती है कि जो जीको भाता है सो माँगती हूँ और हँसकर तो बोली ही है—*'बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली'* [(ग) *'देहु एक बर भरतहि टीका'* में यह भी भाव है कि जिस अभिषेककी सामग्रीसे आपने रामके तिलकका निश्चय किया है उसीसे मेरे पुत्र भरतका अभिषेक कीजिये, दूसरी सामग्री जुटानी नहीं है, उसमें अधिक दिन लगेंगे। भरत तुरत बुलाये जायँ और इसी सामग्रीसे उनके आते ही उनका तिलक किया जाय। यथा—**'अनेनैवाभिषेकेण भरतो मेऽभिषिच्यताम्।'** (वाल्मी० २। ११। २५)]

टिप्पणी—२ *'माँगउँ दूसर बर कर जोरी।'''* इति। प्रथम भरतको राज्य माँगा पीछे रामको वनवास; क्योंकि मन्थराका वचन है कि *'सुतहि राज रामहि बनबासू'* इसमें राज पहले है तब वनवास। दूसरेमें वनका वर प्रथम माँगनेपर राजाको चेत न रह जायगा, वे अचेत हो जायँगे। तब भरतराज्यका वर रह ही जायगा। दूसरा वर अगम है इसीसे अपना काम निकालनेके लिये हाथ जोड़कर अपना विशेष विनीत भाव दिखा रही है। इसीसे 'प्राणप्रिय' सम्बोधन किया अर्थात् हमको अत्यन्त प्रिय है।

नोट—१ दूसरे वरके माँगनेमें हाथ जोड़नेके अनेक भाव कहे जाते हैं। (१) वर कठिन है, उसकी विषमताके निवारणार्थ हाथ जोड़े। (वै०) (२) पहलेसे धन और दूसरेसे तन (प्राण) लेना है; अत: पहलेसे दूसरेमें अधिक नम्र हुई। (रा० प्र०) (३) इससे प्रदर्शित करती है कि ये वही हाथ हैं जिनके बलसे मैंने देवासुर-संग्राममें आपके प्राण बचाये थे, इनके प्रयत्न और पुरुषार्थपर ध्यान देकर मेरा मनोरथ पूरा कीजिये। मैंने आपके प्राण बचाये थे, आप मेरे प्राणोंकी रक्षा करें; क्योंकि यदि दोनों वर आपने तुरत न दिये तो मैं प्राण त्याग दूँगी। यथा—*'होत प्रात मुनि बेष धरि जौं न राम बन जाहिं। मोर मरन राउर अजस नृप समुझिय मन माहिं॥'* (३३) वाल्मीकीयमें कैकेयीके वचन ये हैं, यथा—**'तत्र चापि मया देव यत्त्वं समभिरक्षितः। जाग्रत्या यतमानायास्ततो मे प्रददौ वरौ॥'** (९) **तत्प्रतिश्रुत्य धर्मेण न चेद्दास्यसि मे वरम्। अद्यैव हि प्रहास्यामि जीवितं त्वद्विमानिता॥'** (वाल्मी० २। ११। २०)

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—दूसरे वरको हाथ जोड़कर माँगनेसे सूचित होता है कि रानीका पहिले वरपर अधिक आग्रह नहीं है; क्योंकि वह जानती है कि राजाको इसके देनेमें अधिक कष्ट न होगा। कैकेयीसे विवाहके समय ही महाराज समय (इकरार) कर चुके थे। कैकेयीकी ही इच्छा प्रकट करनेसे उस समयका उल्लङ्घन किया गया। यथा—*'भामिनि भयउ तोर मन भावा।'* दूसरे वरके मिलनेमें उसे पूरा सन्देह है; पहिले कह भी चुकी है कि *'तेउ पावत संदेहु।'* इसलिये दूसरा वरदान बड़े अनुनय-विनयसे माँग रही है।

टिप्पणी—३ रानीने वर यों माँगा कि *'देहु एक बर भरतहिं'''* और *'दूसर बर माँगउँ'''''*।'अर्थात् एक, दूसरा इस तरह—गिनती (गिन) करके वर माँगा। गिन या गिनाकर वर माँगनेका भाव कि राजाने चार वर देनेको कहा है, यथा—*'दुइ के चार माँगि मकु लेहू।'* उसमेंसे तीसरा और चौथा ये दो वर शिथिल

हैं; क्योंकि राजाने उनको अपनी ओरसे देनेको कहा है। और, जो दो वर वह माँग रही है वह उसने अपनी सेवासे उत्पन्न किये हैं इससे ये दोनों वर प्रबल हैं। रानी इन्हीं दोनोंको माँगती है। उसे राजाके वचनोंपर विश्वास नहीं है, सम्भव है कि राजा बदल जायँ। दूसरे राजाके शिथिल वरदानोंसे उसका काम नहीं चलनेका।

टिप्पणी—४ *'तापस बेष······'* इति। (क) तापस वेष धारण करनेसे चित्तमें विषयकी वासना न रह जायगी तब वनवाससे लौटनेपर राज्य करनेकी इच्छा न करेंगे। (ख) *'बिसेषि उदासी'* कहनेसे 'सामान्य उदासी' का भी बोध होता है। जो ग्राम, पुर या नगरमें जावें वे सामान्य उदासी हैं और जो ग्रामादिमें न जायँ वे 'विशेष उदासी' हैं। रानी वर माँगती है कि रामजी वनमें तपस्वी-वेषमें विशेष उदासीन होकर रहें। अर्थात् ग्रामादिमें न जायँ। तात्पर्य कि बस्तीमें अनेक बुद्धिमान् लोग रहते हैं, कदाचित् कोई इनका सहायक हो जाय और इन्हें उपाय बतावे जिससे ये हमारे पुत्रपर उपद्रव कर सकें। (पुन: विशेष उदासीन मुनिवेषमें रहनेसे वनमें कन्दमूल-फल खाकर, वह भी जब योग लगे, शरीरका जैसे-तैसे निर्वाह करनेसे शरीर क्षीण हो जायगा, तब वे लड़ाई भी न कर सकेंगे) (ग) *'तापस बेष बिसेषि उदासी'* इत्यादि बहुत-सी बातें रानीने कहीं। जो मन्थराने उसे नहीं सिखायी थीं। रानीने स्वयं अपनी बुद्धिसे यहाँ काम लिया है, ये बातें अपनी ओरसे कही हैं। (वाल्मी० और अ० रा० में ये बातें मन्थराने सिखायी हैं।)

नोट—२ *'तापस बेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस··'* इति। अर्थात् विरक्त मुनियोंकी तरह वनमें रहें। कैकेयी सोचती है कि केवल वनवाससे काम न चलेगा; क्योंकि सारी प्रजाको श्रीरामजी प्राणप्रिय हैं, सब उनके साथ चल देंगे और वनमें ही जाकर रहेंगे, अवध तो उजड़ जायगा और वन ही अवध बन जायगा, यथा—*'अवध तहाँ जहँ राम निवासू।'* (७४। ३) उजड़े हुए नगरमें तब भरत ही क्या करेंगे? किसपर राज्य करेंगे? अत: तपस्वियोंके वेषमें रहनेको कहती है। अर्थात् वल्कल वसन, कौपीन, कमण्डलु आदिसे ही प्रयोजन रखें, कोई विशेष सामान न रखें। तपस्वी-वेष स्वयं उदासीनताका चिह्न है, पर उसे इतनेसे भी संतोष नहीं। वह चाहती है कि 'विशेष उदासी' बनकर रहें। भरद्वाज, वसिष्ठ, दुर्वासा आदि विरक्त उदासीन तपस्वी हैं, यथा—*'सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥'* (२१०। ३) पर ये भी नगर आदिमें जाते, शिष्य-वर्ग और अन्य ऋषियों-मुनियोंके सहित आश्रममें रहते और प्रयोजनभरके लिये सामान भी रखते थे। कैकेयी चाहती है कि इन मुनियोंकी तरह भी न रहें और न किसी ग्राम-नगर या आबादीमें जायँ।

इस प्रकार रामजी रहें, यह क्यों? तात्पर्य यह है कि कैकेयीके जीमें अब यदि कोई भी भय था तो वह रामचन्द्रजीसे भरतजीके अनिष्ट होनेका था। वह डर रही है कि यदि रामजी नगरमें रहेंगे तो प्रजा इनके पक्षमें हो जायगी और ये भरतसे राज्य छीन लेंगे। अथवा, यदि किसी दूसरे नगर, देश या ग्राममें रहने दिया जायगा तो संदेह है कि किसी दूसरेको चढ़ाई करनेको न भेज दें। इसीसे वह कहती है कि ये कहीं आबादीमें न जायँ, सबसे उदासीन रहें, राज्य-सुख-सम्पत्तिका विचार भी मनमें न लावें, किसीसे वैर-विरोध या मित्रताका भाव मनमें भी न लावें, इत्यादि। इस प्रकार जब १४ वर्ष बीत जायँगे तब एक तो उन्हें स्वयं ही राज्यकी चाह न रह जायगी, दूसरे रहे भी तो कोई उनका साथ न देगा। क्योंकि उतने दिनोंमें भरतजीका पूर्ण स्वत्व प्रजापर हो जायगा। प्रजा, मन्त्री, देश-देशान्तरके राजा इत्यादि सभी उनको चाहने लगेंगे और वे राजकाजमें भी निपुण हो जायँगे।

नोट—३ १४ वर्षके लिये वनवास क्यों माँगा? इसके बारेमें कुछ ऊपर लिखा गया जो वाल्मीकीयके अनुसार है। वहाँ मन्थरा कैकेयी-से कहती है कि—'**चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम्। प्रजाभावगतस्नेहः स्थितः पुत्रो भविष्यति॥**' (२१) '**रूढश्च कृतमूलश्च शेषं स्थास्यति ते सुतः॥**' (३१) '**एवं प्रव्राजितश्चैव रामोऽरामो भविष्यति। भरतश्च गतामित्रस्तव राजा भविष्यति॥**' (३३) '**येन कालेन रामश्च वनात्प्रत्यागमिष्यति। अन्तर्बहिश्च पुत्रस्ते कृतमूलो भविष्यति॥**' (३४) '**संगृहीतमनुष्यश्च सुहृद्भिः साकमात्मवान्॥**' (३५) (सर्ग ९)। अर्थात्

भरतपर प्रजाका स्नेह स्थिर हो जायगा; वे जम जायँगे; प्रजापर रोब जम जायगा, राम प्रजाके अप्रिय हो जायँगे, प्रजा उन्हें भूल जायगी, उनके लौटनेतक भीतर-बाहर भरतकी जड़ जम जायगी। भरत आत्मवान् हैं। वे प्रजाको प्रसन्न करके अपने पक्षमें मिला लेंगे। यह तो हुआ वाल्मीकीयका मत, अब और सुनिये—

नोट—४ इस समय सरस्वती यह वचन रानीकी जिह्वासे कहला रही है। मानसकी मन्थराने दिन नहीं बताये थे, पर सरस्वती तो जानती है कि रावणकी मृत्युको १४ वर्ष शेष (बाकी) हैं। अतः १४ वर्षका वनवास माँगा। ऐसा न होता तो जन्मभरके लिये वनवास माँगकर सदाके लिये बेखटके क्यों न हो जाती? और इससे कम कहती तो रावणका वध कैसे होता? देवकार्य कैसे होता कि जिसके लिये उन्होंने शारदाको अवध भेजा था—*'बिपति हमारि बिलोकि बड़ि मातु करिय सोइ आजु। राम जाहिं बन राज तजि होइ सकल सुरकाजु॥'* (११) रावणवध हो जानेपर अधिक वनवाससे प्रयोजन नहीं। सरस्वती क्यों अधिक वनवास कराती, वह तो इतनेसे ही पछताती थी, यथा—*'भइउँ सरोज बिपिन हिमराती'*, प्रजाका दुःख न देख सकती थी—इसमें 'लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग' है।

नोट—५ मन्थराने कैकेयीसे कहा था कि *'भयउ पाख दिन सजत समाजू'*, १४ दिन बीतनेपर पंद्रहवें दिन खबर मिली; अतः एक दिनके बदले एक-एक वर्षका वनवास माँगा। (दोहा)—*'चौदह दिनपर श्रवण सुनि राज तिलककी बात। ताते माँगेउ राम वन जाहिं वर्ष दुइ सात'*—(गणपति उपाध्याय) अथवा, राजा कैकेयीके पास गये तब तिलकको १४ घड़ी समय बाकी था; अतः प्रत्येक घड़ीके बदले एक-एक वर्ष माँगा। अथवा, १४ वर्षमें चौदहों राजनीतियों और विद्याओंमें भरत निपुण हो जायँगे। वा; इतने वर्षोंमें शास्त्रसे रामजीका कुछ हक या हिस्सा पिताकी जायदादपर न रह जायगा।' (पाँड़ेजी, वै० रा० प्र०)

नोट—६ पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि उसे रामजीसे अब भी वैर नहीं है। कपट-पेटारी (मन्थरा) ने ऐसा पाठ पढ़ाया है कि वज्र-वैर सौत-(कौसल्या-) से हो गया है। वह चाहती है कि जिस बेटेको कौसल्या मुकुटादिसे अलंकृत राजवेषमें सिंहासनारूढ़ देखना चाहती है उसी बेटेको तापस वेषमें वन जाते देखे। मन्थराने तो सदाके लिये वनवास माँगनेको कहा था, यथा—*'सुतहि राज रामहि बनवासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू॥'* पर रानी कैकेयीने चौदह वर्षके लिये ही वनवास माँगा। उसको सबसे अधिक इस बातका दुःख था कि कौसल्याने राजाको ऐसा अपनाया कि उसके मतमें पड़कर राजाने चौदह दिनतक मुझसे बात छिपायी, यथा—*'भयउ पाख दिन सजत समाजू। तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू॥'* (१९। ३) अतः कौसल्याको साका करके फल देनेके लिये, एक-एक दिन बात छिपानेके बदले एक-एक वर्षका वनवास दिया। इस भाँति दूसरे वरमें रामजीके लिये चौदह वर्षका वनवास माँगा। चौदह वर्षमें प्रजा भरतजीके हाथमें आ जायगी इत्यादि अनेक कारण हो सकते हैं। पर अन्यूनातिरिक्त चौदह वर्ष माँगनेका कोई लौकिक प्रत्यक्ष कारण होना चाहिये।

दीनजी—इस स्थानपर तुलसीदासजीने **'मनोरथ मोरी'** पाठ दिया है जो व्याकरणके अनुसार अशुद्ध है। इसका क्या कारण है? उन्होंने ऐसा क्यों लिखा? यह निश्चयात्मक रूपसे मैं नहीं कह सकता। शायद स्त्री होनेके कारण कैकेयीने मनोरथको स्त्रीलिङ्ग कह दिया हो। इस दोषके निवारणार्थ कुछ लोगोंने *'जोरे' 'मोरे'* पाठ रखा है; पर प्राचीन प्रतियोंमें *'जोरी', 'मोरी'* ही पाठ मिलता है। [☞ गोस्वामीजीने 'मनोरथ' शब्दको स्त्रीलिङ्गके रूपमें अन्यत्र भी प्रयुक्त किया है। यथा—*'बिबुध बिप्र बुध ग्रहचरन बंदि कहौं कर जोरि। होइ प्रसन्न पुरवहु सकल मंजु मनोरथ मोरि।'* (१। १४) (यहाँ कवि तुलसीदासजीका मनोरथ है), *'फलित बिलोकि मनोरथ बेली।'* (२। १। ७) (यह माताओं और सखी-सहेलियोंका मनोरथ है); तथा यहाँ *'पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी।')* साथ ही इस शब्दका प्रयोग पुँल्लिङ्गके रूपमें भी हुआ है। यथा—*'मोर मनोरथ जानहु नीकें। बसहु सदा उरपुर सब ही कें॥' 'कीन्हेउँ प्रगट न कारन तेही।'* (१। २३६) (यह श्रीजानकीजीका मनोरथ है), *'सुफल मनोरथ होहु तुम्हारे।'* (१। २३७) (ये श्रीराम-लक्ष्मणजीके मनोरथ हैं), *'मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला॥'* (२९। ८) *'मैं सबु कीन्ह तोहि बिनु पूछे। तेहि तें परेउ मनोरथ*

छूछें॥' (३२। २) (ये राजाने स्वयं अपने मनोरथके सम्बन्धमें कहा है), *'भूप मनोरथ सुभग बन'''।'* (२८) यह कविने राजाके सम्बन्धमें लिखा है। इसी तरह ब्रह्मगिराने पार्वतीजीसे कहा है—*'भयउ मनोरथ सुफल तव सुनु गिरिराजकुमारि।'* (२१। ७४) इत्यादि इन उद्धरणोंसे सिद्ध होता है कि केवल स्त्री होनेके कारण उसके मुखसे 'मनोरथ' को स्त्रीलिङ्ग रूप दिया गया हो, सिद्ध नहीं होता। सम्भव है कि उस समय इस शब्दका प्रयोग दोनों रूपोंमें होता रहा हो। अथवा इसमें कुछ और सूक्ष्म भाव हो।]

सुनि मृदु बचन भूप हिय सोकू। ससिकर छुअत बिकल जिमि कोकू॥ ४॥
गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा। जनु सचान बन झपटेउ लावा॥ ५॥
बिबरन भयउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू*॥ ६॥

शब्दार्थ—**कर**=किरण। **कोका**=चक्रवाक, चकवा। यह हंसकी जातिका एक पक्षी है जो हाथभर लम्बा होता है। इसके शरीरपर भिन्न-भिन्न रंगोंका मेल होता है। पीठ, छाती पीली और पीछेका रंग खैरा, पूँछ कुछ हरी, डैनोंपर कई रंगोंका मेल होता है। कहते हैं कि रातको यह अपने जोड़ेसे अलग रहता है। जाड़ेमें बड़े जलाशयोंके पास यह भारतवर्षमें दिखायी देता है। सचान (सं० संचान=श्येन)=बाज। **लावा**=लवा, बटेर, तीतर। यह तीतरकी जातिका, पर उससे छोटा पक्षी होता है। इसके पंजे बहुत लम्बे होते हैं। यह जमीनपर अधिक रहता है और दाना-कीड़े खाता है। जाड़ेमें इसके झुण्ड-के-झुण्ड दिखायी देते हैं। इसीसे यहाँ 'लावाका वन और वनमें लावापर झपटना' कहा गया। **झपटेउ**=लपककर, दौड़कर, तेजीसे बढ़कर किसीपर आक्रमण करना और उसे पकड़ लेना, टूट पड़ना 'झपटना' कहलाता है—(सं० झंप=कूदना)। **बिबरन**=बदरंग, रंग उड़ जाना, पीला, सफेद या काला पड़ जाना। **निपट**=बिलकुल। **तालू**=ताड़का वृक्ष। **हनेउ**=मार गिराया।

अर्थ—कैकेयीके कोमल मीठे वचन सुनकर राजाके हृदयमें ऐसा शोक हुआ, जैसे चन्द्र-किरणके स्पर्शसे चकवा व्याकुल हो जाता है॥ ४॥ राजा सहम गये, उनसे कुछ कहते न बना, मानो बटेरके वन, वा वनमें बटेरपर बाज टूट पड़ा हो॥ ५॥ राजाका रंग बिलकुल उड़ गया, मानो ताड़के वृक्षपर बिजली गिरी हो॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'सुनि मृदु बचन भूप हिय सोकू'''* इति। (क) चन्द्रकिरण बाहर शीतल करती है पर कोकके उरमें शोक उत्पन्न करती है। वह व्याकुल हो जाता है। वैसे ही कैकेयीके वचन सुननेमें मृदु हैं पर हृदयको शोकदाता हैं। यहाँ कैकेयीका मुख चन्द्रमा है, वचन किरण हैं और राजा कोक हैं। [(ख) प्राणप्रिय, नाथ आदि विशेषणयुक्त होनेसे वचनको मृदु कहा। कोमल वचनोंसे राजाको शोक हुआ जैसे चन्द्र-किरणसे कोकको व्याकुलता होती है। भाव कि चन्द्र-किरण सुखदायी होती है, पर कोकको नहीं। (रा० प०) कोमल वचनोंमें जो वर माँगे गये हैं उनका श्रवण किरणका स्पर्श है। (मा० सं०) बैजनाथजीका मत है कि 'कोक विकल होता है क्योंकि वियोगी है। उसको कोकीका वियोग होता है वैसे ही इनको रघुनन्दन श्रीरामजी और कैकेयी इन दोनों प्यारोंका वियोग हो जायगा।' (वै०) (ग) यहाँ 'उदाहरण अलङ्कार' है। वीरकविजी लिखते हैं कि पुत्रका वियोग सुनकर राजाके हृदयमें जो दुःख हुआ, वह 'शोक स्थायी भाव' है। इस समयका दुःख अल्प है, क्योंकि अभी राजा समझते हैं कि कदाचित् रानीने हँसी की हो। पूरा निश्चय होनेपर यह शोक पूर्णावस्थाको पहुँचेगा। (घ) प० प० प्र०—कोकको सूर्यके किरण प्रिय होते हैं। *'राम सच्चिदानन्द दिनेसा'* श्रीरामजी दशरथजीको प्राणोंसे भी प्रिय हैं। इस चरणमें 'चन्द्र' के स्थानपर 'शशि' शब्दका प्रयोग करके बताया कि कलङ्कित चन्द्रमाके समान कैकेयीके वचन थे। निष्कलङ्क शशि या 'शशि चारू' श्रीरामजी हैं। कैकेयीके वचन-शशिमें रामद्रोहरूपी कलङ्क लगा है, इससे दशरथजी व्याकुल हो गये।]

* पाठान्तर—'जालू'।

टिप्पणी—२ *'गयउ सहमि कछु''' '* इति। कुछ कहते न बना क्योंकि राजा सत्यप्रतिज्ञ हैं, धर्मात्मा हैं, सत्यकी सराहना करके उन्होंने वर देनेको कहा था, अतः अब न तो नहीं ही करते बने और न एवमस्तु ही। यहाँ रानीको सचान और राजाको लावासे उपमा दी गयी; क्योंकि यहाँ रानीकी बात प्रबल है, दो वरदान उसके थाती थे ही, वही उसने माँगे और वह भी राजाके कहनेपर कि माँगो हम देंगे। राजाको लवा कहा; क्योंकि इनकी बात शिथिल पड़ गयी, सत्यकी प्रशंसा करके उन्होंने वर देनेको कहा, पर जब रानीने माँगा तब वे चुप हो रहे, बटेरकी तरह दबक गये। [नोट—ऊपर दोहेमें वचनको बाज कहा है, यथा—*'भिल्लिनि जिमि छाड़न चहति बचन भयंकर बाज।'* वैसे ही यहाँ भी वचन बाज है। बाजके झपटनेपर लवा दबककर, सिकुड़कर निर्जीव-सा हो जाता है। एक खास बात उसमें यह है कि वह पकड़े जानेपर चिल्लाता भी नहीं, उसके मुँहसे शब्द भी नहीं निकलता; अतः लवाकी उपमा सार्थक है।] सचान वनमें झपटा, रानी कोपभवनमें। यहाँ उक्तविषया-वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

श्रीनंगे परमहंसजी—१ *'सुनि मृदु बचन भूप हिय सोकू''' '* इति। यहाँ जो प्रथम वर माँगा है कि *'सुनहु प्रानप्रिय भावत जी का। देहु एक बर भरतहि टीका॥'* यही मृदु वचन है। भरतजी राजाको प्रिय हैं, यथा—*'मोरे राम भरत दोउ आँखी'*, इसलिये भरतके लिये राज्य माँगना मृदु वचन है। तब शोक क्यों हुआ? इसका उत्तर *'ससि कर छुअत बिकल जिमि कोकू'* में दे दिया है। भाव यह कि चन्द्रकिरण चक्रवाकको शीतल लगती है पर साथ ही शोक भी उत्पन्न करती है। चक्रवाकने चकईके साथ रहनेको सुख माना है और चन्द्रकिरण उसको उस सुखसे रहित कर देती है, अतः चकवाको शोक होता है। उसी तरह राजाने श्रीरामजीको युवराज होनेमें सुख माना था, वह सुख भरतके लिये राज्य माँगनेसे जाता रहा। इसीसे राजाको शोक हुआ। पहला वरदान सुनकर राजाकी जो दशा हुई उसको ग्रन्थकारने चकवेकी उपमा देकर सूचित की है और दूसरे वरदानसे जो दशा हुई उसे लवा और बाजके दृष्टान्तसे आगे दिखाते हैं।

२ *'गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा।''' '* इति। *'चौदह बरिस राम बनबासी'* ये वचन सुनकर राजा सहम गये, क्यों सहम गये? प्राण जानेके डरसे, क्योंकि इससे तो अब प्राण रहेंगे नहीं। श्रीरामजी राजाके प्राण हैं। कैसे डर गये? जैसे लवापर बाजके झपटनेसे लवा डर जाता है। अर्थात् जैसे जब लवाको बाज अपने पंजेमें ले लेता है तब वह प्राण जानेके डरसे बोलता ही नहीं; क्योंकि भयमें वचन निकलता नहीं। वैसे ही राजा वरदानरूप पंजेमें आ गये हैं, अतः प्राण जानेके भयसे उनके मुखसे वचन नहीं निकलता।

नोट—१ प्रथम वरसे भी राजाको शोक हुआ, क्योंकि राजाने मन्त्रियों और प्रजाप्रतिनिधियोंसे सम्मति लेकर श्रीरामजीको युवराज बनानेका निश्चय किया था, अब वे लोग क्या कहेंगे? वे अवश्य कहेंगे कि राजाकी बुद्धि नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। रामको कल प्रातः युवराज्य देंगे, यह कहकर दूसरेको राज्य देते हैं, राजाके वचनका कोई ठीक नहीं, वे असत्यवादी हो गये। दूसरे, नीतियुक्त इक्ष्वाकुकुलमें यह बड़ा नीतिविरुद्ध कार्य होने जा रहा है, इससे भी शोक हुआ। यथा—*'मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृपनीति॥'* (३१) **'इक्ष्वाकूणां कुले देवि सम्प्राप्तः सुमहानयम्॥'** (वाल्मी० २। १२। १९) (वाल्मी० २। १२। ६३-६४) दूसरा वर तो प्राण ही लेनेवाला है, अतः उससे भी शोक हुआ, पर पहलेसे अधिक। दोनों ही वर परम अनुचित थे, इसीसे राजा थोड़ी देरतक कुछ भी न बोल सके, उनकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयीं। यह मत वाल्मीकिजीका भी है। यथा—**'रामस्य च वने वासमैश्वर्यं भरतस्य च।'** (२। १२। ५१) **'नाभ्यभाषत कैकेयीं मुहूर्तं व्याकुलेन्द्रियः।'** भरतजीको राज्य देना भी उनको नीतिविरुद्ध होनेसे प्रिय नहीं है, फिर भी वे इस वरको देना स्वीकार करते हैं जिसमें वह प्रसन्न होकर श्रीरामको वनवास न दे। श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि *'नहिं कछु कहि आवा'* यह केवल दूसरे वरदानसे सम्बन्धित है।

टिप्पणी—३ *'बिबरन भयउ निपट नरपालू''' '* इति। (क) विवर्ण हुए, उनका रंग फक्क हो गया, उनका शरीर झुलस-सा गया, वे सूख गये। ताड़पर बिजली गिरनेकी उत्प्रेक्षाका भाव कि बिजलीके गिरनेसे अन्य वृक्षोंमें शाखाएँ रह जाती हैं, पर तालवृक्षमें कुछ नहीं रह जाता। वैसे ही राजा नाशको प्राप्त-से हुए।

[(ख) ताड़पर बिजलीके गिरनेसे उसका शिरोभाग टूट जाता है। फिर उसमें अन्य वृक्षोंकी तरह नवीन अङ्कुर नहीं निकलते। वह पेड़ ही नष्ट हो जाता है। (दीनजी) पुनः भाव कि जैसे ताड़का वृक्ष शिरोभंग होनेसे द्युतिहीन हो जाता है वैसे ही राजा अत्यन्त द्युतिहीन हो गये। (रा० प्र०) शोक और सहम जानेसे उनके शरीरकी यह दशा हो गयी। (ग) नरपालू—'*नरनाहू*। २७। ७।' देखिये। यहाँ '**तरु**' शब्दसे भाव यह है कि दशरथजी ताल-वृक्षके समान बड़े ऊँचे, धीर, गम्भीर होनेपर भी माधुर्यभावके कोमल हृदयवाले उपासक हैं और कैकेयीके शब्द तो दामिनीके समान अग्निमय हैं। सुननेमें तो शीतल थे पर समझनेपर विद्युत्के समान विनाशक और विदाहक हैं। '*लावा*' और '*तरु तालू*' से ध्वनित किया कि तालसमान होनेपर भी लावाके समान क्षुद्र बन गये। तालकी उपमासे राजाकी सरलता सूचित की। (प० प० प्र०) पर श्रीनंगे परमहंसजी कहते हैं कि दामिनीकी उपमा कैकेयीके वचनकी नहीं है, बल्कि तीसरी उपमा इस बातकी है कि राजाकी कैकेयीने कैसी दशा कर दी।]

टिप्पणी—४ यहाँ राजाके मन, वचन और तन तीनोंकी दशा कहते हैं। '*भूप हिय सोकू*' यह मनकी दशा है। '*नहिं कछु कहि आवा*' यह वचनकी और '*बिबरन भयउ*' यह तनकी दशा है।

नोट—२ मिलान कीजिये। यथा—'**निपपात महीपालो वज्राहत इवाचलः।**' (अ० रा० २। ३। २३) '**तां हि वज्रसमां वाचमाकर्ण्य हृदयाप्रियाम्। दुःखशोकमयीं श्रुत्वा''तरुरिवापतत्।**' (वाल्मी० २। १२। ५३-५४) अर्थात् अप्रिय दुःखशोकमयी वज्रके समान वाणीको सुनकर राजा कटे वृक्षके समान गिर पड़े। विशेष ३५(१—३) में देखिये।

माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन। तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन॥ ७॥
मोर मनोरथु सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला॥ ८॥
अवध उजारि कीन्हि कैकेई। दीन्हिसि अचल बिपति कै नेईं॥ ९॥

शब्दार्थ—**मूँदि**=बन्द करके, ढककर, ढाँपकर। **करिनि**=हथिनी। **हतेउ**=उखाड़ गिराया। **उजारि कीन्हि**=उजाड़ कर दिया। **उजाड़**=गिरा-पड़ा-सा, निर्जन। यहाँ तात्पर्य है—नष्ट करने, बिगाड़ डालने, तितर-बितर करनेसे। **नेईं**=नींव, बुनियाद। **अचल**=जो चल न सके, अटल, पक्की, मजबूत, किसी प्रकार न उखड़नेवाली।

अर्थ—माथेपर हाथ रख दोनों नेत्र बन्द करके राजा ऐसे सोचने लग गये मानो सोच ही शरीर धारण करके सोच कर रहा हो॥ ७॥ (सोचते हैं कि हा हन्त,) 'मेरा मनोरथरूपी कल्पवृक्ष फूल चुका था (परंतु) फलते समय (कैकेयीने उस मनोरथका ऐसा सर्वनाश कर दिया।) जैसे हथिनीने उसे जड़समेत उखाड़ गिराया हो॥ ८॥ कैकेयीने अवधको उजाड़ डाला, विपत्ति-(दुःख-) की पक्की नींव डाल दी॥ ९॥

—'करुणारसका आदर्श विकास'—

इस प्रसङ्गमें मानसकारने करुणारसका क्रमशः जैसा विकास किया है वैसा अन्य किसी रामचरितसम्बन्धी काव्यमें देखनेमें नहीं आया। और रामायणोंमें प्रायः रामवनगमनकी बात सुनते ही राजा दशरथ मूर्छित हो गये हैं। परंतु यहाँ वह बात नहीं है। कैकेयीके कोपभवनको सुनकर और अमङ्गलवेषको देखकर ही राजा दशरथके मनमें भावी अमङ्गलका खटका हो गया, शोकका स्थायी भाव इस अवलम्बनको पाकर उभरा। कैकेयीका दूसरा वरदान उस शोकके उद्दीपनका कारण हुआ। शोकके उद्दीप्त होते ही विकलताका संचार हुआ, राजा सहम गये, फिर सात्त्विक भावोंका उदय हुआ, वदन पीला और तेजहीन हो गया, माथेपर हाथ धर दोनों आँखें मूँद शोककी मूर्ति बन गये। फिर तो आगेको राजा-रानीका संवाद साक्षात् शोकसागर है और भगवान्का वनगमन, दशरथजीका प्राणत्याग और उसके परिवर्त्ती सभी प्रसङ्ग बड़े उत्तम क्रमके साथ करुणारसका आदर्श रूप और आदर्श विकास है। यद्यपि कथाक्रम स्वयं कविके लिये सहायक है तथापि उसके यथोचित प्रयोगमें और रसके विकासके वर्णनमें किसी अन्य कविको इतनी सफलता नहीं मिली है—(गौड़जी)।

टिप्पणी—१ *'माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन'* इति। यह भारी सोचकी मुद्रा है। भारी शोकमें मनुष्योंकी यह दशा होती है। वे शोकसे व्याकुल होकर स्वाभाविक ही नेत्र बन्दकर दोनों हाथ माथेपर धरकर बैठ जाते हैं। भारी शोक, भय या दुःखमें आँखें सहज ही मुँद (बन्द हो) जाती हैं। इसके उदाहरण इसी ग्रन्थमें बहुत हैं। यथा—*'हृदय कंप तन सुधि कछु नाहीं। नयन मूँदि बैठी मग माँहीं॥'* (१। ५५) *'मूँदेउ नयन त्रसित जब भयऊँ।'* (७। ८०। १) *'मूँदे नयन सहमि सुकुमारी।'* (२४६। ४) इत्यादि, तथा यहाँ *'माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन'''।'* [*'माथे हाथ मूँदि'* का भाव कि मस्तकमें भाग्य-कुभाग्य लिखा रहता है और हाथोंमें भी इसीसे माथेपर हाथ धरकर सोचते हैं कि हम हतभाग्य हो गये, हमारा भाग्य जाता रहा, फूट गया।) नेत्र बन्द कर लिये कि दुष्टा दृष्टिमें न आवे। (पं०) अथवा बिजलीके गिरनेके समय लोग नेत्र बन्द कर लेते हैं वैसे ही राजाने कैकेयीके वाक्‌रूपी दामिनिके भयसे नेत्र बन्द कर लिये। (मुं० रोशनलाल)]

टिप्पणी—२ *'तनु धरि सोचु लागु जनु सोचन'* इति। राजाका शोक यहाँ उत्प्रेक्षाका विषय है, शोक शरीरधारी नहीं होता इसीसे कवि उसकी उत्प्रेक्षा करते हैं। राजा तन-मन-वचन तीनोंसे शोचमय हो गये हैं; इसीसे राजाको शोचमूर्ति कहते हैं। मानो राजा नहीं हैं वरन् सोच ही मूर्तिमान् होकर बैठा सोच कर रहा है। इससे शोककी अधिकता दिखायी। यह अत्युक्तिपूर्ण कल्पना 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' है। राजा क्या सोच कर रहे हैं यह आगे लिखते हैं—*'मोर मनोरथ'''।'* *

नोट—१ *'मोर मनोरथु सुरतरु फूला। फरत करिनि'''समूला'* इति। (क) रामराज्याभिषेकका मनोरथ सुरतरु है। गुरु, मन्त्री, परिजन आदिकी भी उसमें सम्मति हुई, यही उसका बढ़कर बड़ा होना है। यथा—*'अभिमत बिरव परेउ जनु पानी।'* (२। ५। ४) तिलककी तैयारी इस मनोरथ-वृक्षका फूलना और तिलक होना फल लगना है। (ख) कल्पवृक्ष वाञ्छित फल देता है, राजाके रामराज्याभिषेक मनोरथसे सबको वाञ्छित फलकी प्राप्ति होगी, सभीका उपकार होगा, कुछ एक राजाका ही नहीं। अतः उसे राजा *'सुरतरु'* कहते हैं। (पु० रा० कु०) (ग) जब वह फूल चुका था, उसके फलका सुख सबको मिलनेवाला ही था और उसके नष्ट होनेकी सम्भावना न हो सकती थी उसी समय कैकेयीने उसको उखाड़ फेंका।

टिप्पणी—३ (क) *'बिबरन भयउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहु तरु तालू॥'* और *'मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला॥'* इन दोनों उत्प्रेक्षाओंसे जनाया कि कैकेयीके वचनसे राजाके तनका नाश हुआ और मनोरथका भी। (ख) *'हतेउ समूला'*—(जड़समेत उखाड़ डाला, क्योंकि यदि जड़ या ठूँठ रह जाय तो पेड़ फिर हरा हो जाता है, उसमें फिर अङ्कुर फूट आते हैं, डाल, पत्ते, फूल, फल फिर हो जाते हैं और जड़से उखड़ जानेसे सूख ही जाता है; अतएव *'हतेउ समूला'* कहा। अर्थात् अब रामराज्य किसी प्रकार नहीं हो सकता। जड़से उखड़ गया। राजा सोचते हैं कि यदि कैकेयी रामवनवास न माँगती तो रामराज्यकी फिर भी अभी आशा कर सकते, पर रामवनगमनसे तो हमारी मृत्यु ही हो जायगी, [हम जीवित ही न रहेंगे, तब मनोरथकी पूर्ति कैसे सम्भव हो सकती है? मनोरथ तो हमारे साथ ही चला जायगा। (ग) यहाँ मनोरथ सुरतरु है पर उसका मूल क्या है? राजा स्वयं ही मनोरथके मूल हैं, आपहीने राज्याभिषेककी चर्चा गुरुसे चलायी और उसका होना निश्चित किया। इस प्रकार *'हतेउ समूला'* वचनोंद्वारा अपने मनोरथका ही नहीं किंतु साथ-ही-साथ कैकेयीद्वारा अपना भी नाश सूचित कर रहे हैं। इस भावकी पुष्टि *'ब्याकुल राउ सिथिल सब गाता। करिनि कलपतरु मनहु निपाता॥'* (३५। १) से भी होती है। यहाँ 'मनोरथ' को कल्पवृक्ष और वहाँ 'राजा' को कल्पवृक्ष कहा। दोनोंको कैकेयीने नष्ट किया। अतएव दोनों स्थानोंमें उसको हथिनी पशुसे उपमित किया है। (घ)—मनोरथपर सुरतरुका आरोप करके कैकेयीपर हथिनीका आरोपण करनेसे यहाँ रूपक है। जैसे हथिनी पेड़को उखाड़ डालती

* वाल्मी० आदिके राजा दशरथ यह सोच रहे थे कि क्या यह मेरा दिनका स्वप्न है या मुझे चित्तमोह हो गया है या पूर्व जन्मका अनुभूत किसी बातका स्मरण हो रहा है या यह कोई मानसिक विकार या उन्माद हो रहा है। (२। १२। २)

है वैसे ही इसने मनोरथको नष्ट कर डाला, इसमें 'उदाहरण अलङ्कार' है।] (ङ) कैकेयीको हथिनी अर्थात् पशुसे रूपक दिया, क्योंकि उसमें विचार नहीं है। देखिये, अपने घरमें लगा हुआ फूलता-फलता कल्पवृक्ष पेड़ देवता, मनुष्यकी कौन कहे राक्षस भी नहीं उखाड़ते या काटते, (और अपनी कौन कहे कोई दूसरेको भी न उखाड़ने देगा), सो ऐसे मनोरथरूपी सुरतरुको दुर्बुद्धि विचारहीन कैकेयी अर्थात् घरवालेने ही जड़मूलसहित उखाड़ गिराया। पुन: हथिनी कहा, क्योंकि वृक्षोंके गिराने-उखाड़नेमें उसको कुछ नहीं लगता, वह बलपूर्वक वृक्षोंको उखाड़ डालनेमें समर्थ है; वैसे ही कैकेयी यहाँ इस मनोरथ-तरुके नष्ट करनेमें प्रबल है, उसने पहले ही राजाको वचन-बद्ध करके तब वर माँगा)।

टिप्पणी—४ *'अवध उजारि कीन्हि कैकेयी।'''* इति। (क)—भाव यह कि उसने एक मेरा ही मनोरथ नहीं नष्ट किया वरन् अवधमात्रको उजाड़ डाला और उसमें विपत्तिकी नींव डाल दी। अर्थात् अवधको उजाड़कर विपत्तिका नगर बसाना चाहती है। (ख)—अपने मनोरथका उजड़ना कहकर तब अवधका उजड़ना कहा, क्योंकि इस मनोरथके पूर्ण होनेसे अयोध्या बसती और इसके नष्ट होनेसे (राम-वनगमनसे) उजड़ती है। (अवधका उजड़ना प्रजाके विरह-वर्णनमें कहा जायगा, प्रजा रहना नहीं चाहेगी, भागेगी और अन्तमें जब रहेगी भी तब भूषण-भोग सब त्यागकर रहेगी)। (ग)—*'अचल'* का भाव कि ऐसा पुष्ट पक्का सङ्गीन काम किया कि चलायमान न हो सके, इस विपत्तिको कोई टाल या हटा न सके। विपत्ति अटल है क्योंकि हम (राजा) अपना वचन न छोड़ेंगे, वचनको मिथ्या न करेंगे। रामजी अवश्य वनको जायँगे और हमारा मरण होगा—यह टलनेवाला नहीं है। (घ)—विपत्तिकी अटल नींव डाली; आगे कहेंगे कि घर भी ढहाना चाहती है।

दो०—कवने अवसर का भयउ गयउँ* नारि बिस्वास।
जोग सिद्धि फल समय जिमि जतिहि अबिद्या नास॥ २९॥

शब्दार्थ—**गयउँ**=बुरी दशाको पहुँचा, नष्ट हुआ, ठगा गया, कहींका न रहा, मारा गया। **जतिहि**=यतिको। यति=वह जिसने इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली हो और संसारसे विरक्त होकर मोक्षका उद्योग करता हो, संन्यासी, योगी।

अर्थ—क्या अवसर था और उसमें हो गया क्या! स्त्रीपर विश्वास करनेसे मैं मारा गया, कहींका न रह गया। (इस समय मेरी वही दशा हुई) जैसे योगकी सिद्धि-फल-प्राप्तिके समय योगीको अविद्या माया नष्ट कर डालती है॥ २९॥

नोट—१ भाव यह है कि यह मङ्गलका समय था; इसमें अमङ्गल हो गया, सुखके अवसरपर दु:ख हो गया, परम लाभके अवसर परम हानि हो गयी। राज्याभिषेकके समय वन हो गया।† जैसे यती सिद्ध होकर आत्मज्ञानीकी अवस्थाको प्राप्त करनेके योग्य हुआ तभी अविद्यामायाने आकर उसका ज्ञान हर लिया और वह तनको ही नित्य मानकर उसीके साधनमें लग जाय। जैसे बहुत-से लोग सिद्धियोंमें पड़कर अपना किया-कराया सब परिश्रम खो बैठते हैं। यथा—*'प्रबल अविद्या कर परिवारा', 'रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ देखावहिं आई॥' 'कल बल छल करि जाहिं समीपा। अंचल बात बुझावहिं दीपा॥' 'होइ बुद्धि जो परम सयानी। तिन्ह तन चितइ न अनहित जानी॥'* (७। ११८) इत्यादि ज्ञान दीपक-प्रसङ्गसे इसका पूर्ण भाव समझमें आ जायेगा।

---

* 'गयउँ'—(राजापुर), 'गयेउ'—(रा० प्र०), 'गयउ'—(ना० प्र०) 'गयउ' पाठसे लोगोंने यह अर्थ किया है कि आजसे अब स्त्रियोंका विश्वास उठ गया। पर प्रसङ्गके अनुकूल 'गयउँ' ही सुसंगत है। यहाँ नष्ट होनेसे प्रयोजन है। उसीका उदाहरण उत्तरार्द्धमें दे रहे हैं।

† इसमें वाल्मी० २। १२। २ 'किं नु मेऽयं दिवास्वप्नश्चित्तमोहोऽपि वा मम। अनुभूतोपसर्गो वा मनसो वाप्युपद्रव:।' का भाव भी आ जाता है। इससे जनाते हैं कि राजाको विश्वास नहीं होता कि जो कैकेयीने कहा वह सत्य है, इसीसे वे सोचते हैं कि मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ, या मेरे चित्तमें कुछ भ्रम तो नहीं हो गया इत्यादि।

टिप्पणी—१ *'कवने अवसर का भयउ'''।'* इति (क) भाव कि राज्याभिषेकके अवसरपर वनवास हो गया, स्त्रीपर विश्वास करनेसे मैं नाशको प्राप्त हुआ। जैसे योगसिद्धिके फलके समय अविद्यासे यतीका नाश होता है। योग-सिद्धि-फल परम लाभ है, उसके समान और लाभ नहीं और अविद्याकी प्राप्ति परम हानि है। वैसे ही रामराज्य परम लाभके अवसर वनवास परम हानि हुई। अविद्या योगको बिगाड़ देती है, योग सिद्ध नहीं होने पाता, फल नहीं मिलता और योगके बिगड़नेसे यतीके तनका भी नाश होता है। यहाँ राजा यती, रामराज्याभिषेककी तैयारी योग, रामराज्य योगसिद्धि-फल और कैकेयीकी कुमति अविद्या है जिसने योगको बिगाड़ा जिससे फलकी प्राप्ति न हो पायी और राजाके तनका नाश हुआ। (ख) अविद्या यतीको छलसे बिगाड़ती है, यथा—*'कल बल छल करि जाहिं समीपा। अंचल बात बुझावहिं दीपा॥'* (७। ११८। ८) वैसे ही कैकेयीकी कुमतिने राजाको छलसे बिगाड़ा, यथा—*'कपट सनेह बढ़ाइ बहोरी। बोली बिहँसि नयन मुँह मोरी'*, *'ऐसिउ पीर बिहँसि तेहि गोई॥ '''लखी न भूप कपट चतुराई'* इत्यादि। (ग)—यती योग करनेमें मुख्य है। सब विषय त्याग करनेपर मनुष्य योगका अधिकारी होता है। यती योगका अधिकारी है, इसीसे यहाँ 'यती' की उपमा दी। (घ)—राजा सोचते हैं कि हमारी राजधानी नष्ट हुई, यथा—*'अवध उजारि कीन्हि'''''*, हमारा नाश हुआ, यथा—*'गयउँ नारि बिस्वास।'* प्रथम राजधानीका नाश कहकर तब अपने नाशका शोच करते हैं अर्थात् अपने तनके शोचसे राजधानीके नाशका शोच अधिक है।

नोट—२ 'योग-सिद्धि' के लिये योगके आठों अङ्गोंका साधन आवश्यक और अनिवार्य बताया गया है। अष्टाङ्ग ये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच प्रकारके क्लेश योगदर्शनमें माने गये हैं। पतञ्जलि ऋषिने इनसे बचने और मोक्ष प्राप्त करनेका उपाय योग बताया है। अष्टाङ्गका क्रमशः साधन करते-करते मनुष्य सिद्ध हो जाता है और अन्तमें मोक्ष प्राप्त कर लेता है। 'अविद्या'—मोह, अहङ्कार, काम, क्रोध आदि सब अविद्या मायाके परिवार हैं। इसीके कारण जीव भवकूपमें पड़ा सड़ता है। इससे ज्ञान उलट जाता है। मनुष्य अनित्यमें नित्य, अशुचिमें शुचि, दुःखमें सुख और अनात्मामें आत्माका भाव करने लगता है। स्त्रीको मायाका रूप ही कहा है, यथा—*'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि। तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥'* (३। ४३) अतः यहाँ रानीके लिये अविद्याकी उपमा बड़ी उत्तम है।

पण्डितजी—'योगके आठ अङ्गोंमेंसे एक अङ्ग आसन है जो ८४ लाख हैं, सात अङ्ग और हैं। सो इन सबको करके, जैसा उत्तरकाण्ड ज्ञान-दीपकमें वर्णन किया गया है—*'सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई'* इत्यादि, जब तेजराशि विज्ञानमय दीपक जला और जो *'जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई'* थी वह छूटने लगी तब मायाकी उपाधिसे वह योग-भ्रष्ट हो गया। यतीको किसीमें राग (प्रीति) नहीं होता। सो योग-सिद्धि-फलके समय उसे कामकी इच्छा हुई, स्त्री प्राप्त हुई उसके संगसे वह नष्ट हो गया। स्त्री-रूपी अविद्या योग-मार्गमें तलवारकी धार है—*'परत खगेस होइ नहिं बारा।'*

प्रश्न—महान् समुद्रको जड़ करणीसे अर्थात् पैरकर कोई कैसे पार कर सके? उत्तर—'रामभक्ति-नावसे'।

प्रश्न—सब वासनाओंका त्याग कैसे बने? उत्तर—रामदास होनेसे। रामजीके दास होनेसे पार लग जाता है और राजा तो रामजीके बाप बने हैं तो कैसे बन सके? योगीके नजदीक अविद्या कुछ नहीं है पर गृहस्थ तो अविद्यामय ही है। राजा योगी हैं, रामराज्यरूपी योगसिद्धि-फल परम लाभ है, सो वे अविद्यारूपिणी कैकेयीके संगसे इतने बड़े पदसे गिरे, परमलाभके बदले परम हानि हुई।

एहि बिधि राउ मनहिं मन झाँखा। देखि कुभाँति कुमति मन माषा॥ १॥

शब्दार्थ—**झाँखा**=झींखने वा झँखने लगे, खीझे—(यह शब्द 'झींखना' से बनाया गया है। झींखना=किसी अनिवार्य अनिष्टके कारण दुःखी होकर बहुत पछताना और कुढ़ना, दुखड़ा रोना)= पछताते रहे। **कुभाँति**=बुरी रीति, बुरी तरह, बुरा ढंग (चेष्टा), बेतरह। **माषा**=माषना, क्रुद्ध या कुपित होना। *'भटमानी अतिसय मन माषे'* (१। २५०। ५) में देखिये।

अर्थ—इस प्रकार राजा मन-ही-मन झींखते रहे। राजाके इस बुरे ढंगको देखकर दुर्बुद्धि कैकेयी मनमें बेतरह क्रुद्ध हुई॥ १॥

टिप्पणी—१ *'एहि बिधि राउ मनहिं मन झाँखा'* इति। (क) *'तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन।'*(२९। ७) उपक्रम है, *'एहि बिधि''* ' उपसंहार है। इसके बीचमें क्या सोच रहे हैं उसका उल्लेख है प्रथम कहा कि *'गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा।'* (२९। ५) जब मुँहसे कुछ वचन न निकल सका, बोल न सके तब राजा मन-ही-मनमें झँखने लगे। आदिमें *'लाग जनु सोचन'* और अन्तमें *'मनहिं मन झाँखा'* कहकर सोचने और मनमें झँखनेको पर्याय शब्द जनाया। [(ख) *'एहि बिधि'* अर्थात् जैसा ऊपर लिख आये, *'मोर मनोरथ सुरतरु फूला'* से 'अविद्या-नाश' तक। पुनः भाव कि कुछ विधि यहाँ लिखी गयी, इसी प्रकार और भी समझ लीजिये जो अन्य ऋषियोंने लिखी हों। वाल्मी० २। १२। २ तथा अ० रा० २। ३। २४ में जो मनमें सोचना लिखा है वह ऊपर दोहेमें लिखा गया है। इन शब्दोंसे यह भी जनाया कि राजा कुछ कर्तव्य निश्चित न कर सके।]

टिप्पणी—२ *'देखि कुभाँति कुमति मन माषा'* इति। [(क)'कुभाँति' के दो-तीन अर्थ ऊपर दिये गये हैं। 'कुभाँति' को दीपदेहलीन्यायसे लेनेसे ये सब अर्थ यहाँ लगते हैं। अर्थात् राजाकी 'कुभाँति' (बुरी चेष्टा, मनमें झँखना, इत्यादि) देखकर कैकेयी 'कुभाँति' (बुरी तरह एवं बेतरह) मनमें माखी। और 'कुभाँति' (बुरी तरहके) वचन बोली, इसका अध्याहार ऊपरसे करना होगा, क्योंकि आगे उसके वचन हैं जिन्हें सुनकर राजाने कहा है कि *'प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती।'* (३१। ५) (ख)—*'कुमति मन माषा'* इति। पूर्व जब कैकेयीने अपना कर्म नष्ट किया तब कविने उसको 'कुमति' कहा, यथा—*'कोप समाज साजि सबु सोई। राज करत निज कुमति बिगोई॥'* (१३। ७) फिर जब वह नष्ट वचन बोली, तब उसको 'कुमति' कहा, यथा—*'बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली। कुमत कुबिहग कुलह जनु खोली॥''भिल्लिनि जिमि छाँड़न चहति बचनु भयंकरु बाजु॥'* (२८) और जब उसने *'कुभाँति मन माषा'* तब उसके मनको भी नष्ट जानकर 'कुमति' विशेषण दे रहे हैं—*'कुमति मन माषा।'* तात्पर्य कि उसके कर्म, वचन और मन तीनोंको निन्दित जानकर कवि तीनों स्थानोंमें कुमति विशेषण देकर उसके कर्म, वचन और मन तीनोंकी निंदा करते हैं। (ग)—*'मन माषा'* इति। मनमें क्रोध होनेका भाव कि (राजाकी यह दशा देखकर कि वर माँगनेपर उनको भारी शोक हो रहा है, वे पीले पड़ गये, मनमें न जाने क्या झँख रहे हैं, उत्तर नहीं देते, वह सह न सकी। उसे कुबरीके वचनोंका स्मरण हो आया कि) जो मन्थराने कहा था कि *'तुम्हहिं न सोचु सोहाग बल निज बस जानहु राउ। मन मलीन मुह मीठ नृप''।'* (१७) वह सब सत्य हैं, राजा कपटी हैं, मनमें मैले हैं, हमसे ऊपरसे मीठे वचन बोला करते थे, पर प्रेम है कौसल्यामें। वे कौसल्याका ही हित चाहते हैं। (मनमें माष हुआ अर्थात् वह सह न सकी। सह न सकनेसे क्रोध आ गया। 'माष' शब्द 'अमर्ष' से बना है। क्रोधमें कठोर वचन निकलते हैं, यथा—*'क्रोध के परुष बचन बल''।'* वही कठोर वचन आगे हैं।)

भरतु कि राउर पूत न होंही। आनेहु मोल बेसाहि कि मोही॥ २॥
जो सुनि सरु अस लाग तुम्हारे। काहे न बोलहु* बचन सँभारे॥ ३॥
देहु उतरु अनु† करहु‡ कि नाहीं। सत्यसंध तुम्ह रघुकुल माहीं॥ ४॥

शब्दार्थ—**मोल बेसाहि**=दाम देकर मोल लाये। '**बेसाहि**' (सं० व्यवसाय)। **बिसाहना**=दाम देकर लेना, मोल लेना, खरीद करना। **सत्यसंध**=सत्यप्रतिज्ञ, सत्यके साधनेवाले, सत्यवादी।

अर्थ—क्या भरत आपके पुत्र नहीं हैं? या कि आप मुझे ही दाम देकर मोल लाये हैं?॥ २॥ जो (मेरा

* बोलेहु—ना० प्र०, को० रा०। † अरु—भा० दा०, लाला सीताराम, पं० रा० गु० द्वि०। ‡ कहहु—पाठान्तर। विशेष नोट—३ में देखिये।

वचन वा भरतका राज्य) सुनकर आपको बाण-सा लगा तो आप वचन सँभालकर क्यों नहीं बोले?॥ ३॥ उत्तर दीजिये कि आप उसके अनुकूल करते हैं या नहीं? आप तो सत्यवादी हैं और रघुकुलमें हैं!॥ ४॥

नोट—१ *'भरतु कि राउर पूत न होंही।…'* इति। क्या भरत आपके पुत्र नहीं हैं या कि आप मुझे खरीद लाये हैं? इस कथनका तात्पर्य यह है कि दो ही हालतोंमें भरत राज्यके अधिकारी नहीं हो सकते। एक तो यदि वे आपके पुत्र न हों; दूसरे यदि वे दासीपुत्र हों। यदि ऐसा नहीं है, वे आपहीके पुत्र हैं और मैं पटरानी हूँ लौंड़ी नहीं, तो आपको भरत-राज्यके वरसे दुःख न होना चाहिये था, हर्ज क्या था, राम न राजा हुए भरत ही हुए! यहाँ तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग है। यहाँ व्यंगसे सूचित करती हैं कि क्या कौसल्या ही पटरानी हैं और राम ही आपके पुत्र हैं?

वि० त्रि०—राजाकी यह दशा देखकर कैकेयी बड़ी चिढ़ी कि यदि कौसल्याके षड्यन्त्रके सफल होनेपर रामको राज्य होता तब तो मेरे पुत्रको आजन्म कारावास होता, यथा—*'भरत बंदिगृह सेइहैं राम लखन के नेब।'* सो इन्हें मंजूर था, और मैं तो भरतके राज्यके साथ रामचन्द्रके लिये केवल चौदह वर्षका वनवास माँगती हूँ, सो इन्हें बाणकी भाँति लगा। अतः कहती है कि क्या मैं जरख़रीद गुलाम हूँ, और भरत दासीपुत्र हैं? (भाव यह कि दासी-पुत्र, पुत्र नहीं माने जाते। कहावत भी है कि रानीके बेटे राजा होते हैं, राजाके बेटे राजा नहीं होते) अर्थात् मैं भी पटरानी हूँ, मेरे बेटेपर भी तुम्हें वैसा ही प्रेम होना चाहिये जैसा कि कौसल्याके बेटेपर है। उसके लिये राज्य माँगनेपर आपको ऐसी चोट क्यों लगी कि इतने बिकल हो गये?

नोट—१ *'मोल बेसाहि'* एक शब्द मानकर बोला जाता है। पं० रामकुमारजी कहते हैं कि यह देशबोली है, लोग बोलते हैं कि 'यह वस्तु हम मोल बेसाहा' है। ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। अब भी लोग जोर देनेके लिये बोला करते हैं—क्या दाम देकर मोल लिया है, जरखरीद किया है? इसमें पुनरुक्ति नहीं है। २—पुनरुक्तिके विचारसे लोग इस तरह अर्थ करते हैं कि *'आनेहु मोल?'* भरतके लिये कहा और *'आनेहु बेसाहि'* अपने लिये। अर्थात् क्या भरतको मोल लाये हो या कि मुझे बेसाहि लाये हो। इस प्रकार इसमें पुनरुक्तिवदाभास अलङ्कार है।

टिप्पणी—१ *'जो सुनि सरु अस लाग…'* इति। [(क) *'भरतु कि राउर पूत न होंही।…'* इन वचनोंके साथ मिलाकर अर्थ करनेसे *'जो सुनि'* का अर्थ होगा 'भरतका राज्य सुनकर', *'देहु एक बर भरतहि टीका'* इसे सुनकर। इससे जनाया कि मुख्य वरदान यही है और दूसरा तो केवल उसकी पुष्टिके लिये है, पहला योग है दूसरा क्षेम] (ख) *'सरु अस लाग तुम्हारे'*—राजाका रङ्ग पीला पड़ गया। शोकके मारे उनके मुखसे वचन नहीं निकलता। वे दोनों हाथ माथेपर रखे आँखें बंद किये हुए शोकमें डूबे हुए बैठे हैं। इसीपर वह कहती है—*'जो सुनि सरु…।'* यह सब दशा बाण लगनेसे होती है। भाव कि भरतको राज्य दीजिये यह वचन तुमको बाण-सा लगा। (ग) *'काहे न बोलहु'*—अर्थात् अपनेको सँभालकर मुँहसे कहना चाहिये कि तुम्हारे किये होगा या नहीं, भरत तुम्हारे पुत्र हैं या नहीं? मैं जरखरीद दासी हूँ या रानी?

नोट—१ लाला सीतारामकी पुस्तकमें *'बोलहु'* पाठ है। गीताप्रेसने भी यही पाठ दिया है। को० रा० और ना० प्र० सभाने *'बोलेहु'* पाठ दिया है। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि राजापुरकी पोथीमें *'बोल्हेु'* है और टीकाकारोंने *'बोलहु'* पाठ दिया है। दास अयोध्याजीसे बाहर नहीं जाता इससे कुछ निर्णय नहीं कर सकता कि वास्तवमें पाठ क्या है। गी० प्रे० ने राजापुरका पाठ प्रायः रखा है। पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीके टिप्पणसे प्रतीत होता है कि *'बोल्हु'* पाठ उन्होंने भी रखा है। अतः मा० पी० में भी *'बोलहु'* पाठ दिया गया है। इस पाठके जो भाव लोगोंने लिखे हैं वे सब यहाँ दिये गये हैं।

नोट—२ (क)—पंजाबीजी कहते हैं कि राजाकी दशा देख कैकेयी डरी कि कहीं इस दशामें प्राणान्त हो गया और वे 'हाँ' न कह सके तो बना-बनाया काम बिगड़ जायगा। इसलिये वह ऐसा कहती है कि 'हमारे वचन बाणसे लगे हैं! अपनेको सँभालकर बोलते क्यों नहीं?' जिसमें वे बोलें। फिर भी वे

न बोले तब कहती है कि उत्तर दीजिये, हाँ या नहीं कुछ भी कीजिये। यह अर्थ भी ठीक लगता है। (प्र० सं० में हमने ऐसा लिखा था किन्तु अब देखनेसे पता चला कि यह भाव उनका नहीं है अथवा मैंने समझनेमें गलती की थी। उनका अर्थ यह है—'भरतके राज्यका वाक्य जो तुम्हारे हृदयको बाण-समान छेद रहा है, तो तुमको प्रतिज्ञा विचारकर करनी थी।' इस तरह उन्होंने भी 'बोलहु' का अर्थ 'बोलेहु' किया है)।

(ख) वि० त्रि०—जैसे बाणके लगनेसे वीर बेसँभाल हो जाते हैं (यथा—*'परा बिकल महि सरके लागे'*) उसी भाँति राजाको विकल देखकर कैकेयी कहती है कि इसमें कोई दुःखकी बात नहीं है, राम या भरत किसीके राजा होनेपर एकको सुख और दूसरेको दुःख होना अनिवार्य है, अतः आप अपनेको सँभालकर एक बात कह दीजिये 'हाँ' या 'ना', पर इस बातका ध्यान रहे कि आप रघुकुलमें सत्यसन्ध हैं।

(ग) हमारा वचन तुम्हें बाण-सा लगा। सँभालकर क्यों नहीं बोलते हो। अर्थात् तुम्हें पहले ही सोच-विचारकर बोलना चाहिये था। पहले किस मुँहसे कहा था कि *'रघुकुल रीति सदा चलि आई'*' इत्यादि। इस तरह न बोलना चाहिये था। ***बोलहु***=बोलते हो=बोले। ***बोलइ***=बोलेहु। इस प्रकार मानसमें बहुत स्थानोंपर शब्दोंका प्रयोग हुआ है। यथा—*'तहूँ सराहसि करसि सनेहू'*, *'मारसि गाइ नहारू लागी।'* (३५। ८) इत्यादि। 'सँभारे' वचनके साथ है। पहले अर्थमें 'वचन' शब्द व्यर्थ हो जाता है। दुःख तो प्रथम वरदानसे भी हुआ पर बाण-सा लगा दूसरा ही वर न कि पहला, क्योंकि यह प्राणघातक है। यदि पहलेमें कैकेयीको संतोष हो जाता तो राजा तो बड़ी प्रसन्नतासे उसे यह वरदान देनेको तैयार हैं। (प्र० सं०)

नोट—३ *'देहु उतरु अनु करहु कि नाहीं।'* इति। *'अनु करहु'* शब्दके प्रयोगके उदाहरण हिंदी-शब्दकोशमें नहीं मिले। मेरी समझमें *'अनु करहु'* एक शब्द है जिसका अर्थ है—'उसके अनुकूल अनुहार वा अनुसार करते हो।' यथा—'अनुकारः सदृशीकरणम् अनुहारः' इत्यमरः। (शब्दकल्पद्रुम)। 'अनुकार' से ही अनुकरहु बना है। गी० प्रे० ने 'हाँ कीजिये, नहीं तो नाहीं कर दीजिये' ऐसा अर्थ किया है। *'अनुकरहु कि नाहीं'* के अर्थ लोगोंने ये किये हैं—'नहीं तो नहीं कर दो', 'पीछे नहीं कर दो', 'या कि नहीं कर दो।' *'अनु करहु'* पाठ राजापुर, भागवतदास, काशिराज इत्यादिकी प्रतियोंमें है।

पं० रामगुलाम द्विवेदीकी प्रतिलिपि जो बंदनपाठकजीके पास थी, उसमें *'अरु कहहु'* पाठ है; पर पाठकजीके शिष्य छोटेलाल व्यासजी *'अनु करहु'* पाठ पाठकजीका बताते हैं। बाबा हरिहरप्रसादजी आदि इसे राजापुरका पाठ लिखते हैं। पर लाला सीतारामकी प्रति जो मिली उसमें 'अरु' है। 'र' पोथीमें 'न' और नकार 'न' ऐसा लिखा गया है, सम्भव है कि 'न' को 'र' पढ़ लिया हो। 'अनुकरहु' का 'अरुकरहु' 'अरुकहहु' ठीक अर्थ न समझनेके कारण हो जाना असम्भव नहीं है।

पं० रामकुमारजी 'अरुकरहु' का अर्थ यों करते हैं—'हमारे वचनका उत्तर दो कि हमने वरदान दिया और कि (या) नहीं करो।' और, कहते हैं कि कैकेयी अपना काम किया चाहती है इसीसे पहले देनेको कहती है पीछे नहीं करनेको कहती है और फिर आगे नहीं करनेसे रोकती है—यह कहकर कि 'आप सत्यसंध हैं और रघुवंशी हैं फिर आप नहीं कैसे कर सकते हैं?'

नोट—४ *'सत्यसंध तुम्ह'*' इति। कैकेयी *'अनु करहु कि नाहीं'* कहकर फिर भी डरती है कि कहीं सत्य ही नहीं न कर दें, क्योंकि श्रीरामजी उनको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं, अतः वह अपना कार्य साधनेके लिये फिर कहती है कि *'सत्यसंध'''।'* ये वचन व्यङ्गके हैं। अर्थात् आप ही तो अभी कह चुके हैं कि *'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचनु न जाई॥'* और सत्यकी सराहना की है। अब उस रीतिका पालन करना आपका कर्तव्य है; जैसे बने आपको वरदान देना चाहिये। पुनः, सत्यसन्ध हो, अतः नहीं करनेसे प्रतिज्ञा जाती है और रघुवंशी हो, अतः मुकरनेसे कुल दूषित हो जायगा। (पु० रा० कु०)

देन कहेहु अब जनि बरु देहू। तजहु सत्य जग अपजसु लेहू॥५॥
सत्य सराहि कहेहु बरु देना। जानेहु लेइहि माँगि चबेना॥६॥

अर्थ—आपने वर देनेको कहा था, अब न दीजिये। सत्य छोड़ दीजिये और जगत्‌में अपयश लीजिये॥ ५॥ सत्यकी बड़ाई करके आपने वर देनेको कहा था। समझते थे कि चबेना माँग लेगी?॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'देन कहेहु'''* इति।—*'देहु उतरु अनुकरहु कि नाहीं।'''* इसका अर्थ यहाँ स्पष्ट कर दिया। जो वहाँ कहा उसीको यहाँ फिरसे कहा। *'सत्यसंध तुम्ह'* इसका तात्पर्य कहते हैं कि *'तजहु सत्य जग अपजस लेहू।'* अपयशका भय दिखाती है जिसमें राजा नहीं न करें।

टिप्पणी—२ (क) *'सत्य सराहि'*, यथा—*'सत्यमूल सब सुकृत सुहाये।'''* चबेना माँगेगी, ऐसा समझकर, इसी धोखेसे आप दानी और सत्यवादी बन रहे थे। शिबिजी आदि बड़े-बड़े उदार दानियोंका उदाहरण आगे देकर राजाको कृपण बनाती है कि आप तो मुट्ठीभर चबेना ही देना जानते हैं। दानी तो वे थे कि तन-धन सब दे डाला। इससे राजाको कृपण जनाया। पुनः भाव कि यदि आपने ऐसा समझा हो तो आपकी भूल है, कोई मरभुक्खा दरिद्री होता तो भले ही ऐसा समझना उचित था कि मुट्ठीभर चबेना माँग लेगा पर, रानी तो राज्य ही माँगेगी (पं०) चबेना=(चर्वण) चबाकर खानेका सूखा भुना हुआ अन्न जैसे चना। यहाँ तुच्छ, अल्प वस्तुका आशय है। यहाँ 'काकोक्ति अलङ्कार' है।

पंजाबीजी—*'तजहु सत्य'* इसपर यदि राजा कहें कि मैं सत्य नहीं छोड़ता, पर तुमने अयोग्य वर माँगा है, दूसरा कोई उचित वर माँग लो (जैसा राजाने आगे कहा है, यथा—*'प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती', 'मागु माथ अबहीं देउँ तोही। रामबिरह जनि मारसि मोही॥'* (३४। ७) तो उसपर कहती है कि *'सत्य सराहि कहेउ बरु देना।'''* भाव कि तुम्हें पहले ही नियम कर देना था कि अमुक वर न देंगे, सो तो आपने किया नहीं; आपने तो अपने कुलकी तथा अपने सत्यकी सराहना करके वर देनेकी प्रतिज्ञा की थी।

वि० त्रि०—इतनेपर भी राजाको न बोलते देखकर कहती है कि देनेको कहकर न देना सत्यका त्यागना है। आपका यश संसारमें है कि महाराज अयोध्या-नरेश बड़े सत्यवादी हैं। सो न देनेसे आपका निर्मल यश नष्ट होगा, और संसारमें अपयश होगा कि स्त्री (कौसल्या) के वशमें पड़कर राजाने उस सत्यको त्याग दिया, जो कि इनके कुलमें किसीने किया न था। यदि कहिये कि मुझे धोखा हुआ मैं यह नहीं समझता था कि यह भरतको राज्य और रामको वन माँगेगी, तो यह बात भी नहीं है, आप जानते थे कि प्राणसे भी प्यारी वस्तु मैं माँगूँगी। अतः वर देनेके पहिले आपने सत्यकी सराहना की (यथा—*'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई'* इत्यादि) ऐसी बातें तो दाता तभी कहता है, जब वह अति दुर्लभ वस्तु देनेको तैयार होता है, तुच्छ वस्तु देनेके समय ऐसे शब्द प्राकृत दानीके भी मुखसे नहीं निकलते, जो आपने कहे।

नोट—वाल्मीकीयमें कैकेयीके इन चौपाइयोंसे मिलते हुए श्लोक ये हैं—**'यदि दत्त्वा वरौ राजन् पुनः प्रत्यनुतप्यसे। धार्मिकत्वं कथं वीर पृथिव्यां कथयिष्यसि॥ यदा समेता बहवस्त्वया राजर्षयः सह। कथयिष्यन्ति धर्मज्ञ तत्र किं प्रतिवक्ष्यसि॥ यस्याः प्रसादे जीवामि या च मामभ्यपालयत्। तस्याः कृता मया मिथ्या कैकेय्या इति वक्ष्यसि॥ किल्बिषं त्वं नरेन्द्राणां करिष्यसि नराधिप। यो दत्त्वा वरमद्यैव पुनरन्यानि भाषसे॥ शैव्यः श्येनकपोतीये स्वमांसं पक्षिणे ददौ॥''''''समयं मानृतं कार्षीः पूर्ववृत्तमनुस्मरन्॥'** (२। १२। ३९—४४)

उपर्युक्त उद्धरणके श्लोक ३९ का भाव *'जो सुनि सरु अस लाग'''''* में है। **'प्रत्यनुतप्यसे'** ही *'सरु अस लाग'* है। भाव कि वर देनेको कहकर आप पश्चात्ताप कर रहे हैं, तब हे वीर! आप पृथ्वीमें धार्मिक कैसे कहे जावेंगे? श्लोक ४०, ४१ का भाव *'देहु उतरु'* में आ जाता है। अर्थात् जब अनेक राजर्षि आकर आपको धर्मज्ञ कहेंगे तब आप उनको क्या यह उत्तर देंगे कि जिस कैकेयीने मेरी रक्षा की, जिसकी कृपासे मैं इतने दिनों जीवित रहा, उससे जो मैंने प्रतिज्ञा की थी उसका पालन मैंने नहीं किया?' *'अनुकरहु कि*